

मोक्षमार्ग की पूर्णता

रत्नत्रय की आगमोक्त परिभाषाएँ आदि एवं
आध्यात्मिकसत्पुरुष श्रीकानजी स्वामी के अनमोल वचन सहित

लेखक :

ब्र. यशपाल जैन, एम.ए., जयपुर

प्रकाशक :

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-4, बापूनगर, जयपुर - 302015

फोन : 0141-2707458, 2705581

E-mail : pstjaipur@yahoo.com

प्रथम संस्करण : 2 हजार

(16 सितम्बर, 2007 से अद्यतन)

द्वितीय संस्करण : 1 हजार

(26 जनवरी, 2009)

मूल्य : 20 रुपये

टाइप सैटिंग :

त्रिमूर्ति कंप्यूटर्स, ए-4 बापूनगर, जयपुर

द्वितीय संस्करण में नवीनता

1. प्रथम संस्करण में मात्र ८७ प्रश्नोत्तर थे। नवीन संस्करण में १२६ प्रश्नोत्तर हैं।
2. प्रकरण के अनुसार श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र गुण का संक्षेप में स्वरूप स्पष्ट आया है।
3. सम्यक्चारित्र की विशेषता का खुलासा भी दिया है।
4. संपादन में नयापन लाने का प्रयास हुआ है।
 १. भूमिका के ५ विभाग बन गये हैं।
 २. प्रथम खण्ड के तीन भाग हो गये हैं।
 ३. प्रत्येक भाग के समाप्ति का संकेत भी दिया है।
 ४. अनुच्छेद छोटे-छोटे बनाये हैं।
 ५. महत्वपूर्ण विषय को बड़े अक्षरों में दिया है।
5. सम्यग्ज्ञान की पूर्णता में आवश्यक जानकर शुक्लध्यान का कथन भी हुआ है।
6. सम्यग्ज्ञान की पूर्णता में ही द्वादशांग श्रुत के ज्ञाता का अल्प विषय सम्मिलित है।
7. आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी के अनमोल बोल दिये हैं।

मुद्रक :

प्रिन्ट 'ओ' लैण्ड, बाईस गोदाम, जयपुर

प्रकाशकीय

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट द्वारा ब्र. यशपाल जैन की नवीनतम कृति 'मोक्षमार्ग की पूर्णता' का द्वितीय संस्करण प्रकाशित करते हुए हमें प्रसन्नता हो रही है। प्रथम संस्करण की २००० प्रतियाँ अल्पावधि में समाज में गयी एवं पाठकों से बार-बार माँग आती रही; इसकारण यह संवर्धित संस्करण पाठकों के कर-कमलों में समर्पित है।

अध्यात्मप्रेमी मुमुक्षुओं को मोक्षमार्ग की चर्चा अत्यन्त प्रिय है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकतारूप मोक्षमार्ग की उत्पत्ति से पूर्णता किस प्रकार होती है ह्व यह सभी की जिज्ञासा का विषय है।

मोक्षमार्ग को इस पुस्तक के प्रथम खण्ड में सरलता से समझाने का प्रयास किया है।

द्वितीय खण्ड में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र के सम्बन्ध में आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी के विशिष्ट उद्गार संकलित हैं।

तृतीय खण्ड में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र की आगमोक्त परिभाषाएँ आदि दिये हैं।

आध्यात्मिक तथ्यों को करणानुयोग के माध्यम से प्रस्तुत करने में सिद्धहस्त ब्र. यशपाल जैन की अध्यापकीय शैली अत्यन्त सरल व सुबोध है ह्व यह उनकी 'जिनधर्म प्रवेशिका' व 'गुणस्थान विवेचन' नामक पूर्व प्रकाशित पुस्तकों से भी स्पष्ट होता है। इस कृति के लिए भी हम उनके आभारी हैं।

इस कृति में विषय-विभाजन कर मुख्य शीर्षक व उपशीर्षक आदि देने में पण्डित शान्तिकुमार पाटील ने सहयोग दिया है।

टाइपसैटिंग कैलाशचन्द्र शर्मा ने बड़े ही मनोयोगपूर्वक किया है। मुद्रण-व्यवस्था में प्रकाशन विभाग के प्रबन्धक श्री अखिल बंसल का विशेष सहयोग रहा है। दानदाताओं के कारण ही कीमत कम करने का कार्य हुआ है। अतः हम इन सभी महानुभावों के हार्दिक आभारी हैं।

आशा है पाठक इस कृति से लाभान्वित होंगे व अपना मोक्षमार्ग प्रशस्त करेंगे।

ह्व डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल, महामंत्री,

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

मनोगत



‘मोक्षमार्ग की पूर्णता’ नामक इस कृति की पूर्णता से मुझे सात्विक आनंद हो रहा है। श्री टोडरमल जैन सिद्धान्त महाविद्यालय की दैनिक शास्त्रसभा में आचार्य अमृतचन्द्र कृत “पुरुषार्थसिद्ध्युपाय” ग्रन्थ के श्लोक क्रमांक २१२, २१३ एवं २१४ पर प्रवचन करने का जब मुझे अवसर प्राप्त हुआ, तब मैंने मूल श्लोक, अर्थ एवं इसकी हिन्दी टीका का सूक्ष्मता से अध्ययन किया। इससे मोक्षमार्ग की उत्पत्ति व पूर्णता सम्बन्धी विशिष्ट विषय पर मेरा ध्यान आकर्षित हुआ।

सभी स्वाध्यायी यह तो जानते ही हैं कि श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र गुण के सम्यक् परिणामन की उत्पत्ति का स्थान चतुर्थ गुणस्थान होने पर भी इनकी पूर्णता का स्थान अलग-अलग ही है।

श्रद्धा गुण का सम्यक् परिणामन व पूर्णता दोनों एक साथ चौथे गुणस्थान में होते हैं।

ज्ञान गुण का सम्यक्पना चौथे गुणस्थान में उत्पन्न होता है, लेकिन पूर्णता तेरहवें गुणस्थान में होती है।

चारित्र गुण का सम्यक्परिणामन भी यद्यपि चौथे गुणस्थान में होता है, तथापि उसकी पूर्णता सिद्धदशा के प्रथम समय में होती है।

तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र की उत्पत्ति युगपत् होने पर भी ज्ञान व चारित्र की पूर्णता अक्रम तथा क्रमशः ही होती है। यह विषय स्पष्ट समझ में आने पर मुझे विशेष आनन्द हुआ। सभी साधर्मियों को भी यह विषय समझ में आवे हूँ इस उद्देश्य से इसे लिखकर प्रकाशित करने की भावना हुई।

इस कृति में तीन खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में ‘मोक्षमार्ग की पूर्णता’ हूँ इस विषय को आगम के आधार से अपनी भाषा में स्पष्ट करने का मैंने प्रयास किया है।

इस कृति में जिस ‘सम्यग्दर्शन’ पुस्तक के उद्धरण दिये हैं, वह पुस्तक श्री दि. जैन कुन्दकुन्द कहान ग्रंथमाला आगरा से प्रकाशित है।

सूज्ञ पाठकों से निवेदन है कि इस सम्बन्ध में कोई विशेष सुझाव हो तो मुझे अवश्य दें।

इस द्वितीय संस्करण को जबलपुर के काव्य एवं तत्त्वसिक श्री राजेन्द्रकुमारजी, रतलाम निवासी पण्डित श्री सिद्धार्थ दोशी, मुम्बई (मलाड) निवासी पण्डित अश्विनी भाई शाह, भोपाल नगर के विरुक्तचित्त पण्डित श्री राजमलजी तथा बाहुबली ब्र. आश्रम के स्वाध्याय रसिक पण्डित श्री जीवेन्द्र जडे ने समग्ररूप से देखा है। नागपुर के पण्डित श्री मनोहरजी मारवडकर ने भी इसे पूर्ण पढ़ा है। कुछ सुझाव भी दिये हैं। अतः हम उनके आभारी हैं। हूँ ब्र. यशपाल जैन, एम.ए.

मोक्षमार्ग की पूर्णता

मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्मभूभृताम्।

ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, वन्दे तद्गुणलब्धये ॥१॥

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि, धर्म धर्मेश्वराः विदुः।

यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति, भवपद्धतिः ॥२॥

जीवादीसद्गुणं सम्मत्तं, तेसिमधिगमो गाणं।

रागादीपरिहरणं, चरणं एसो दु मोक्खपहो ॥३॥

तच्चरुई सम्मत्तं, तच्चग्गहणं च हवइ सण्णाणं।

चारित्तं परिहारो, पयंपियं जिणवरिंदेहिं ॥४॥

सम्महंसणणाणं चरणं, मोक्खस्स कारणं जाणे।

ववहारा णिच्छयदो तत्तियमइओ णिओ अप्पा ॥५॥

१. मोक्षमार्ग के प्रवर्तक, कर्मरूपी पर्वतों को नष्ट करनेवाले, विश्व के तत्त्वों के जाननेवाले भगवान को उनके गुणों की प्राप्ति हेतु मैं प्रणाम करता हूँ। तत्त्वार्थसूत्र

२. धर्म के ईश्वर, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र इन तीनों को धर्म कहते हैं; और इन तीनों से प्रतिकूल जो मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र हैं, वे संसार परिभ्रमण की परिपाटी में होते हैं। रत्नकरंडश्रावकाचार, श्लोक-३

३. जीवादि पदार्थों का श्रद्धान सम्यक्त्व है, उन्हीं जीवादि पदार्थों का जानना ज्ञान है और रागादि का त्याग चारित्र है - यही मोक्षमार्ग है। समयसार गाथा-१५५

४. तत्त्वरुचि सम्यक्त्व है, तत्त्व का ग्रहण सम्यग्ज्ञान है, रागादि परिहार चारित्र है, इसप्रकार जिनवरेन्द्र तीर्थकर सर्वज्ञदेव ने कहा है। अष्टपाहुड-मोक्षपाहुड - गा. ३८

५. व्यवहार नय से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को मोक्ष का कारण जानो। निश्चयनय से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र - इन तीनों की एकतारूप अपना आत्मा मोक्ष का कारण है। द्रव्यसंग्रह गाथा-३९

विषयानुक्रमणिका

क्र.	विषय	पृष्ठ
प्रथम खण्ड		
१.	भूमिका	७-३३
	१. सामान्य	७-११
	२ द्रव्य का स्वरूप	१२-१८
	३ गुण का स्वरूप	१९-२२
	४ पर्याय का स्वरूप	२३-२७
	५ कर्ता-कर्म का स्वरूप	२८-३३
२.	सम्यक्त्व की पूर्णता (उत्पत्ति के साथ ही) (पहला भाग)	३४-६५
३.	सम्यग्ज्ञान की पूर्णता (अक्रम से, कुछ क्रम नहीं) (दूसरा भाग)	६६-१०१
४.	सम्यक्चारित्र की पूर्णता (सुनिश्चित क्रम) (तीसरा भाग)	१०२-१५९
	● चारित्र की पूर्णता के अज्ञान से आपत्तियाँ, उपसंहार एवं लाभ	१६०-१६५
	● परिशिष्ट	१६६-१७०
द्वितीय खण्ड		
१.	रत्नत्रय के सम्बन्ध में आध्यात्मिक सत्पुरुष श्रीकानजीस्वामी के उद्गार	
	● सम्यग्दर्शन	१७१-१९८
	● सम्यग्ज्ञान	१९९-२०८
	● सम्यक्चारित्र	२०९-२१८
तृतीय खण्ड		
१.	रत्नत्रय की आगमोक्त परिभाषाएँ आदि	
	● सम्यग्दर्शन	२१९-२४६
	● सम्यग्ज्ञान	२४७-२५९
	● सम्यक्चारित्र	२६०-२७३
	● अभिप्राय	२७४-२७६

प्रथम खण्ड

भूमिका

१

सामान्य

वीतरागी, सर्वज्ञ एवं हितोपदेशी जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्रतिपादित जिनधर्म में विश्व-व्यवस्था एवं वस्तु-व्यवस्था का निरूपण हूँ छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सात तत्त्व अथवा नौ पदार्थों के रूप में किया गया है। इनमें से छह द्रव्यों में जीव द्रव्य को प्रथम स्थान देकर इसकी प्रधानता सिद्ध की गयी है।

इसीप्रकार पाँच अस्तिकायों में जीवास्तिकाय, सात तत्त्वों में जीव तत्त्व तथा नौ पदार्थों में जीव पदार्थ को प्रथम स्थान दिया गया है। वास्तव में जीव के वर्णन बिना जिनवाणी का निरूपण ही निरर्थक है।

जिनवाणी/शास्त्र में समस्त कथन जीव को समझाने के लिए ही किया है। पुद्गलादि अन्य सर्व द्रव्यों का कथन जीव को भेदज्ञान हो, इसी अभिप्राय से किया है। जैसे रामायण में राम की महिमा को विशेषरूप से मंडित करने के लिए रावण, लक्ष्मण, केवट आदि का कथन/वर्णन किया है।

प्रत्येक जीव द्रव्य में अनन्त गुण विद्यमान हैं, जिनमें श्रद्धा, ज्ञान व चारित्र प्रमुख गुण हैं; क्योंकि इन तीनों के विपरीत परिणामन के कारण ही जीव अनादि से चतुर्गतिरूप संसार में परिभ्रमण करता हुआ प्रत्येक समय अनंत दुःख भोग रहा है तथा इनके ही सम्यक् परिणामन से जीव को अल्पकाल में ही मुक्ति की प्राप्ति भी निश्चित होती है।

इन तीन गुणों में भी जीव को अन्य अनन्त द्रव्यों से भिन्न अर्थात् स्वतंत्र करनेवाला ज्ञान गुण ही जीव का असाधारण लक्षण होने से प्रधान गुण है।

(4)

ज्ञान के द्वारा सविकल्प ज्ञान में वस्तुस्वरूप समझ में आने पर प्राथमिक अवस्था में श्रद्धा को श्रद्धेय विषय मिलता है; क्योंकि जाने बिना श्रद्धान कैसे हो? श्रद्धान को यथार्थ श्रद्धेय वस्तु मिले बिना ज्ञान और चारित्र कैसे सम्यक् रूप से परिणमित होंगे? इसलिए शास्त्र-ज्ञान के कारण ही मोक्षमार्ग का प्रारम्भ होता है।

इसप्रकार श्रद्धा, ज्ञान एवं चारित्र ह इन तीनों गुणों की निर्मल पर्यायें ही मोक्षमार्ग में प्रमुख हैं। इसीलिए आचार्य उमास्वामी ने इन तीनों (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र) की एकता को ही मोक्षमार्ग अर्थात् मोक्षरूप पूर्णसुख का उपाय/साधन बताया है।^१

ज्ञान की महिमा से सभी सुपरिचित हैं। जीवन के लौकिक क्षेत्र में भी ज्ञान ही महत्त्वपूर्ण है। घंटों शारीरिक श्रम करनेवाले मजदूर को मिलनेवाली मजदूरी से मात्र कुछ ही घंटे बौद्धिक कार्य करनेवाले इंजिनियर अथवा डॉक्टर को आर्थिक लाभ बहुत अधिक होता है। मनुष्य जीवन में भी ज्ञान की अधिकता से मनुष्य को महान व ज्ञान की ही हीनता से हीन माना जाता है।

इसीप्रकार पारलौकिक क्षेत्र में भी सम्यक् ज्ञान का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

श्रद्धा ज्ञान का ही अनुसरण करती है, प्राथमिक अवस्था में ज्ञान के माध्यम से ही श्रद्धा में सामान्यरूप से सम्यक्पना आता है तथा चारित्र अर्थात् आचरण के सम्यक्पने का कारण भी ज्ञान ही है;

इसीलिए तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम सूत्र में ज्ञान को सम्यग्दर्शन व सम्यक्चारित्र के बीच में रखा है, ज्ञान मध्य दीपक है; जिससे श्रद्धा और चारित्र को ज्ञान का सहयोग मिलता है।

वास्तव में ज्ञान (जानन क्रियारूप) सदैव यथार्थ अर्थात् निर्मल ही रहता है, कभी भी मलिन नहीं होता; किन्तु श्रद्धा और चारित्र ही

१. 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः' तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय १, सूत्र-१

मलिन अथवा निर्मल होते हैं, इसीकारण मिथ्यादृष्टि के ज्ञान को भी धवला में मंगल कहा है।^१

यदि इस ज्ञान के द्वारा जानी गई वस्तु में किंचित्मात्र भी संशय, विपर्यय या अनध्यवसायरूप या हीनाधिकरूप जानपना हो तो उसे ही मिथ्याज्ञान कहते हैं; तथापि जानपना है ह सो ज्ञान का स्वाभाविक कार्य है ह यही ज्ञान का निर्मलपना है।

अनादि से ही इस जीव का ज्ञान मोह-राग-द्वेषभावों के सन्मुख हुआ वर्त रहा है, उनमें ही अपनापन स्थापित किये हुए जान रहा है। जब किसी आत्मज्ञानी की देशना इसे मिल जाये तो इसका ज्ञानोपयोग अपने शक्तियों के पिण्डरूप जीव के पारिणामिक भाव के सन्मुख हो।

मिथ्यादृष्टि को सम्यग्दृष्टि होने के लिए अथवा संसारमार्गी को मोक्षमार्गी होने के लिए ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कोई साधन ही नहीं है।

आत्मा ज्ञान ही करता है, ज्ञान को ही भोगता है और ज्ञान (जानने) का आनन्द लेता है।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव समयसार गाथा २०५ में लिखते हैं ह

“जाणगुणेण विहीणा एदं तु पदं बहू वि ण लहंते।

तं गिण्ह णियदमेदं जदि इच्छसि कम्मपरिमोक्खं।।

अर्थ ह ज्ञान गुण (आत्मानुभव) से रहित बहुत से लोग अनेक प्रकार के कर्म (क्रियाकाण्ड) करते हुए भी इस ज्ञानस्वरूप पद (आत्मा) को प्राप्त नहीं कर पाते; इसलिए हे भव्य ! यदि तुम कर्मों से सर्वथा मुक्ति चाहते हो तो इस नियत ज्ञान को ग्रहण करो।”

इसी विषय का समर्थन आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार कलश 60 में भी किया है ह

(मन्दाक्रान्ता)

“ज्ञानादेव ज्वलनपयसोरौण्यशैत्यव्यवस्था।

ज्ञानादेवोल्लसति लवणस्वादभेदव्युदासः।।

ज्ञानादेव स्वरसविकसन्नित्यचैतन्यधातोः।

क्रोधादेश्च प्रभवति भिदा भिंदती कर्तृभावम्॥

अर्थ ह्व गर्म पानी में अग्नि की उष्णता और पानी की शीतलता का भेद, ज्ञान से ही प्रगट होता है और नमक के स्वादभेद का निरसन (निराकरण, अस्वीकार, उपेक्षा) ज्ञान से ही होता है। (अर्थात् ज्ञान से ही व्यंजनगत नमक का सामान्य स्वाद उभर आता है और उसका स्वादविशेष निरस्त होता है।) इसीप्रकार निजरस से विकसित होती हुई नित्य चैतन्यधातु और क्रोधादि भावों का परस्पर भेद भी ज्ञान ही जानता है और क्रोधादिक के कर्तृत्व (कर्तापने के भाव) को भेदता हुआ ज्ञान ही प्रगट होता है।”

ज्ञान तथा यथार्थ श्रद्धान के सम्बन्ध में पण्डित टोडरमलजी का कथन भी अति महत्त्वपूर्ण है। इसलिए उसे हम आगे दे रहे हैं ह्व

१. प्रश्न – “यहाँ फिर प्रश्न है कि ह्व ज्ञान होने पर श्रद्धान होता है, इसलिए पहले मिथ्याज्ञान कहो बाद में मिथ्यादर्शन कहो?

समाधान ह्व है तो ऐसा ही, जाने बिना श्रद्धान कैसे हो? परन्तु मिथ्या और सम्यक् ह्व ऐसी संज्ञा ज्ञान को मिथ्यादर्शन और सम्यग्दर्शन के निमित्त से होती है।

जैसे ह्व मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि सुवर्णादि पदार्थों को जानते तो समान हैं, (परन्तु) वही जानना मिथ्यादृष्टि के मिथ्याज्ञान नाम पाता है और सम्यग्दृष्टि के सम्यग्ज्ञान नाम पाता है। इसीप्रकार सर्व मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञान को मिथ्यादर्शन और सम्यग्दर्शन कारण जानना।

इसलिये जहाँ सामान्यतया ज्ञान-श्रद्धान का निरूपण हो वहाँ तो ज्ञान कारणभूत है, उसे प्रथम कहना और श्रद्धान कार्यभूत है, उसे बाद में कहना।

तथा जहाँ मिथ्या-सम्यक्, ज्ञान-श्रद्धान का निरूपण हो, वहाँ श्रद्धान कारणभूत है; उसे पहले कहना और ज्ञान कार्यभूत है उसे बाद में कहना।”

ज्ञान की महिमा को स्पष्ट करते हुए पण्डित दौलतरामजी भी छहठाला में लिखते हैं ह्व

“ज्ञान समान न आन जगत में सुख को कारण।

इह परमामृत जन्म-जरा-मृत रोग निवारण ॥”

इसप्रकार ज्ञान के द्वारा यथार्थ वस्तुस्वरूप के निर्णयपूर्वक निजात्मा की प्रतीति सम्यग्दर्शन, निजात्मा का ज्ञान सम्यग्ज्ञान व निजात्मलीनता ही सम्यक्चारित्र है।

अतः श्रद्धा, ज्ञान व चारित्र गुणों का स्वरूप व कार्य बताकर इनकी समीचीनता का उत्पाद, विकास एवं पूर्णता कहाँ, कब व कैसी होती है ह्व यह स्पष्ट करना ही इस कृति का मुख्य उद्देश्य है।

उक्त विषय को समझने के लिए जिनेन्द्र प्रणीत वस्तु व्यवस्था को यथार्थ समझना अत्यन्त आवश्यक है और वस्तु-व्यवस्था को समझने के लिए द्रव्य-गुण-पर्याय का स्वरूप एवं इनके परस्पर सहज सम्बन्ध का ज्ञान आवश्यक है। अतः सर्वप्रथम इनका ही यथासंभव विस्तार से स्पष्टीकरण करते हैं।

ह●ह

अनमोल बोल

- तुझे धर्म करना है न, तो तू अपने को पहिचान।
- सर्व प्रथम सच्चा निर्णय करने की बात है।
- तू तो ज्ञान का कर्ता एवं ज्ञानस्वभावी है। तू पर का ग्रहण करनेवाला अथवा छोड़ने वाला नहीं है, तू तो मात्र ज्ञाता ही है।
- सत्य निर्णय ही धर्म के प्रथम प्रारंभ (सम्यग्दर्शन) का उपाय है।
- जिज्ञासुओं को पहले ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करना चाहिये।
- मैं एक ज्ञाता हूँ, मेरा स्वरूप ज्ञान है, ज्ञान जाननेवाला है।

ह्व आध्यात्मिक सत्पुरुष श्रीकानजीस्वामी



द्रव्य का स्वरूप

द्रव्यों के समूह को विश्व कहते हैं। इस विश्व में जाति अपेक्षा छह द्रव्य पाये जाते हैं ह जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश व काल। तथा संख्या अपेक्षा से जीव द्रव्य अनंत हैं, पुद्गल द्रव्य अनन्तानन्त हैं, धर्म-अधर्म व आकाश द्रव्य एक-एक हैं तथा काल द्रव्य लोकप्रमाण असंख्यात है।

यह विश्व अनादि-अनंत है, प्रत्येक द्रव्य अनादि-अनंत है और प्रत्येक द्रव्य के प्रत्येक गुण भी अनादि-अनंत ही है। जो अनादि-अनन्त होता है, वह नियम से अकृत्रिम, स्वयंभू व सहज/स्वतःसिद्ध होता है। उसका उत्पादक/कर्ता कोई भी नहीं होता।

जिसका कोई उत्पादक नहीं होता, उसका कोई रक्षक, भक्षक या संहारक भी नहीं होता।

जो दर्शन, ईश्वर को जगत का कर्ता मानते हैं; वे प्रत्येक द्रव्य व उनके प्रत्येक गुण का कर्ता भी ईश्वर को ही मानते हैं। ऐसी मान्यता वाले लोग विश्व में जो भी नयी-नयी अवस्थाएँ (पर्यायें) होती हैं, उनका कर्ता भी ईश्वर को ही मानते हैं।

जिसप्रकार एक घड़े पर दूसरा घड़ा रखना हो; तब पहला घड़ा सीधा रखा हो तो उस पर दूसरा-तीसरा घड़ा भी सीधा ही रखा जायेगा तथा यदि पहला घड़ा उल्टा रखा हो तो आगे के सभी घड़े भी उल्टे ही रखे जायेंगे।

उसीप्रकार विश्व, द्रव्य-गुण-पर्याय ह इनमें से किसी एक का भी कर्ता किसी अन्य को मान लिया जाय तो सभी का कर्ता अन्य को मानना अनिवार्य हो जायेगा, जो कि वस्तुव्यवस्था से सर्वथा विपरीत है।

द्रव्यार्थिकनय से जैनदर्शन में विश्व-द्रव्य-गुण सभी को सहज अर्थात् स्वयंभू स्वीकार किया गया है।

पर्यायार्थिकनय से एवं सूक्ष्मता से विचार किया जाय तो प्रत्येक पर्याय भी सहज/स्वयंभू है तथा अपनी योग्यता से ही उत्पन्न होती है।

पर्याय की उत्पत्ति के काल में उस पर्याय की उत्पत्ति में अनुकूल अन्य द्रव्य की पर्याय को मात्र निमित्तरूप से स्वीकृत किया जाता है; किन्तु अज्ञान अपने अज्ञानभाव से उस निमित्त को ही उपादान कर्ता (मुख्य कर्ता, वास्तविक कर्ता) मानते हैं।

इस कर्तापने की मान्यता का छूटना ही वास्तविक वस्तु व्यवस्था की स्वीकृति है तथा ऐसा जानना सम्यग्ज्ञान है और मानना सम्यग्दर्शन है।

प्रत्येक द्रव्य, स्वभाव से शुद्ध ही है। जाति अपेक्षा छह द्रव्यों में भी धर्म, अधर्म, आकाश व काल ह ये चार द्रव्य तो कभी विभावरूप/अशुद्धरूप परिणमते ही नहीं हैं।

मात्र जीव व पुद्गल ह इन दो द्रव्यों में ही विभाव/अशुद्ध परिणमन होता है। इनके विभाव-परिणमन में भी मूल द्रव्यस्वभाव कभी भी अशुद्ध नहीं होता है, वह तो सदैव एकरूप एवं शुद्ध ही रहता है।

मोक्षमार्गप्रकाशक में (पृष्ठ १९९) पर इसका स्पष्टीकरण इसप्रकार आया है ह

“एक तो द्रव्य अपेक्षा शुद्धपना है, एक पर्याय अपेक्षा शुद्धपना है। वहाँ द्रव्य अपेक्षा तो परद्रव्य से भिन्नपना और अपने भावों से अभिन्नपना ह उसका नाम शुद्धपना है। और पर्याय अपेक्षा औपाधिकभावों का अभाव होने का नाम शुद्धपना है। सो शुद्ध चिंतवन में द्रव्य अपेक्षा शुद्धपना ग्रहण किया है। वही समयसार व्याख्या में कहा है :ह

“एष एवाशेषद्रव्यान्तरभावेभ्यो भिन्नत्वेनोपास्यमानः शुद्ध इत्यभिलष्यते।”

(गाथा ६ की टीका)

इसका अर्थ यह है कि आत्मा प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं है। सो यही समस्त परद्रव्यों के भावों से भिन्नपने द्वारा सेवन किया गया ह्व ऐसा कहा जाता है।

तथा वहीं ऐसा कहा है :ह्व

“समस्तकारकचक्रप्रक्रियोत्तीर्णनिर्मलानुभूतिमात्रत्वाच्छुद्धः।”

(समयसार गाथा ७३ की टीका)

अर्थ :ह्व समस्त ही कर्ता, कर्म आदि कारकों के समूह की प्रक्रिया से पार को प्राप्त ऐसी निर्मल अनुभूति, जो अभेदज्ञान तन्मात्र है, उससे शुद्ध है। इसलिये ऐसा शुद्ध शब्द का अर्थ जानना।”

यदि द्रव्य का मूल स्वभाव ही अशुद्ध हो जाय तो पर्याय को शुद्ध करने का कोई उपाय ही शेष नहीं रहेगा।

२. प्रश्न ह्व पर्याय के विभाव अर्थात् अशुद्धरूप परिणामने पर मूल द्रव्य भी विभावरूप/अशुद्धरूप हो गया ह्व ऐसा मानने में क्या आपत्ति है ?

उत्तर ह्व बहुत बड़ी आपत्ति है। जो अनादि-अनन्त होता है, वह स्वभाव से शुद्ध ही होता है; परन्तु पर्यायदृष्टि से द्रव्य को अशुद्ध कहा तो जाता है, तथापि मूल स्वभाव अशुद्ध होता नहीं।

द्रव्य अनादि-अनन्त है, अतः वह स्वरूप से शुद्ध ही है। द्रव्य के शुद्धस्वभाव की स्वीकृति के कारण ही पर्याय को शुद्ध करने का प्रयास/पुरुषार्थ किया जाता है।

यदि द्रव्यार्थिकनय से भी द्रव्यस्वभाव को ही अशुद्ध मान लिया जाय तो पर्याय को शुद्ध करनेरूप मोक्ष का पुरुषार्थ ही नहीं रहता।

जैसे वैद्य या डॉक्टर, मानव शरीर को स्वभाव से निरोग मानते हैं। बीमारी को रोगाणुकृत तात्कालिक, क्षणिक व नष्ट होने योग्य विकार/विभाव मानते हैं। शरीर के निरोग स्वभाव की श्रद्धा के कारण ही औषधि आदि उपचारों से रोग को दूर करने का उपाय करते हैं।

वैसे जीव द्रव्य भी स्वभाव से शुद्ध ही है। अशुद्धता तो पर के लक्ष्य और निमित्ताधीन दृष्टि से पर्याय में उत्पन्न हुआ तात्कालिक क्षणिक व नष्ट होने योग्य विकारीभाव/विभाव हैं।

शुद्ध स्वरूप के श्रद्धान के कारण ही अर्थात् स्वभाव के लक्ष्य से विभाव को हेय मानकर विकार का विनाश करने के लिए बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ किया जाता है।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने पंचास्तिकाय संग्रह, गाथा क्रमांक-१० में द्रव्य का लक्षण बताते हुए लिखा है ह्व

दव्वं सल्लक्खणियं उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं।

गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू॥

गाथार्थ ह्व जो 'सत्' लक्षणवाला है, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य संयुक्त है अथवा गुण-पर्यायों का आश्रय है, उसे सर्वज्ञ देव द्रव्य कहते हैं।

इस जगत में एक भी वस्तु ऐसी नहीं है, जो स्व-अस्तित्व से अर्थात् स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल एवं स्वभाव से भिन्न हो।

द्रव्य का मुख्य धर्म द्रवता अर्थात् द्रवित होना-अन्वयशीलता है, इसकारण वह अपने ही गुण-पर्यायों में द्रवित होता है। इसप्रकार प्रत्येक द्रव्य स्व-अस्तित्व से अभिन्न है ह्व 'ऐसे सत् को ही द्रव्य का लक्षण कहा है।’^१

इसीप्रकार प्रवचनसार, कार्तिकेयानुप्रेक्षा, सटीक परमात्मप्रकाश, बृहद्द्रव्यसंग्रह टीका, प्रवचनसार टीका, पंचाध्यायी आदि ग्रन्थों में भी द्रव्य के स्वरूप की चर्चा स्पष्टरूप से की गई है ह्व विशेष जिज्ञासु पाठक इन ग्रन्थों का अध्ययन अवश्य करें।

पण्डित दीपचंदजी कासलीवालकृत चिद्विलास में भी द्रव्य, गुण, पर्याय के विषय को लेकर विशेष विवरण प्रारंभिक ३० पृष्ठों में आया है; उसे अवश्य देखें। विस्तारभय से यहाँ उसे दिया नहीं।

(8)

१. पंचास्तिकाय गाथा-९। सद्द्रव्यलक्षणम्, तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय-५, सूत्र-२९

गुरुवर्य श्री गोपालदासजी बरैया ने जैन सिद्धान्त प्रवेशिका में सामान्यजन को बोधगम्य ऐसा द्रव्य का लक्षण इसप्रकार दिया है ह्य गुणों के समूह को द्रव्य कहते हैं।

यहाँ गुणों के समूह का तात्पर्य मात्र दो-पाँच गुण अथवा हजार-लाख-करोड़-अरब आदि संख्यात गुण तो हैं ही नहीं, असंख्यात गुण भी नहीं हैं; अपितु अनन्त गुणों का समूह है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक द्रव्य में अनन्त गुण पाये जाते हैं।

इस परिभाषा में पर्यायों का समूह (कथन में) गौण है। तत्त्वार्थसूत्र में 'गुणपर्ययवद् द्रव्यम्'^१ ऐसा सूत्र आया है, अर्थात् गुण एवं पर्यायों के समूह को द्रव्य कहते हैं।

३. प्रश्न ह्य पुद्गलद्रव्य में तो स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि थोड़े से ही गुण पाये जाते हैं और आप प्रत्येक द्रव्य में अनन्तगुण बता रहे हैं, हम किसे यथार्थ स्वीकार करें ?

उत्तर ह्य भाई साहब ! आप तो मात्र कुछ विशेष गुणों का ही उल्लेख कर रहे हैं। जिनवाणी में भी पुद्गल का लक्षण बताते हुए सामान्यरूप से स्पर्शादि चार गुणों का ही संक्षेप में कथन किया है। वस्तुतः पुद्गल द्रव्य में स्पर्शादि विशेष गुण भी अनन्त हैं और अस्तित्वादि सामान्य गुण भी अनन्त ही हैं।

धर्मादि द्रव्यों की चर्चा में तो मात्र गतिहेतुत्वादि एक-एक विशेष गुणों का ही उल्लेख मिलता है, लेकिन वहाँ भी अनन्त विशेष गुण व अनन्त सामान्य गुण समझना चाहिए अर्थात् अनन्त सामान्य गुण और अनन्त विशेष गुणों के समूह को ही द्रव्य कहते हैं ह्य ऐसा ही प्रत्येक द्रव्य का वास्तविक स्वरूप समझना चाहिए।

१. तत्त्वार्थसूत्र अध्याय-५, सूत्र ३८

जीव द्रव्य में भी अनुजीवी गुण, प्रतिजीवी गुण, सामान्य गुण, विशेष गुण इसतरह गुणों के भेद-उपभेद सहित गुण अनन्त हैं। पुद्गलद्रव्य में भी गुण अनन्त हैं। इसीतरह सापेक्ष धर्म भी वस्तु में पाये जाते हैं।

४. प्रश्न ह्य जीव का मूल प्रयोजन क्या है?

उत्तर ह्य लोक में जितनी आत्मा हैं, उनके एक उपाय यह पाया जाता है कि दुःख न हो; सुख हो।^१

इस कारण इस कृति में जीव के जिन गुणों के विपरीत या विभावरूप परिणामन से जीव को दुःख होता है और स्वभाव/सम्यक् रूप परिणामन से सुख होता है; उनकी ही अर्थात् श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र गुण की ही मुख्यता से चर्चा की है।

५. प्रश्न ह्य पुद्गल के गुणों का जीव के सुख-दुःख से क्या संबंध है?

उत्तर ह्य पुद्गल के भी जिन गुणों का संबंध या आश्रय जीव के सुख-दुःख से है; उनकी ही चर्चा जिनवाणी में आयी है। जैसे ह्य

पुद्गल के स्पर्श, रस, गंध और वर्ण ह्य इन गुणों का संबंध जीव के स्पर्शनेन्द्रिय आदि चार इन्द्रियों से है। अर्थात् स्पर्शनेन्द्रिय का विषय स्पर्श है, रसनेन्द्रिय का विषय रस है, घ्राणेन्द्रिय का विषय गंध है एवं चक्षुरिन्द्रिय का विषय वर्ण है।

पुद्गल के गुण, जीव के सुख-दुःख में स्वयं निमित्त नहीं हैं वे तो मात्र ज्ञेय हैं। जीव उनको निमित्त या आश्रय बनाकर अपनी कल्पना से स्वयं सुखी-दुःखी होता है।

जीव इन इंद्रिय-विषयों में आसक्त रहता है अर्थात् स्पर्शादि विषयों को इष्टानिष्ट मानकर सुख-दुःख की कल्पना करके संसार में दुःख भोगता हुआ भटकता है। जब वस्तुस्वरूप को यथार्थ जानकर स्पर्शादि से विरक्त हो जाता है, तब वह जीव मोक्षमार्गी होकर सिद्ध बन जाता है।

६. प्रश्न हूँ आपने कर्णेन्द्रिय के विषय के संबंध में तो कुछ बताया ही नहीं; क्या कर्णेन्द्रिय के विषय में आसक्ति दुःख का कारण नहीं है?

उत्तर हूँ क्यों नहीं, कर्णेन्द्रिय का विषय, शब्द भी तो जीव को संसार में अटकने-भटकने में निमित्त बनता ही रहता है।

शब्द, पुद्गल द्रव्य की समानजातीय द्रव्यपर्याय है और वह कर्णेन्द्रिय का विषय है। इसलिए शब्दरूप पुद्गल का भी शास्त्र में ज्ञान कराया है।

द्रव्यसंग्रह गाथा सोलह में पुद्गल द्रव्य की पर्यायों में सर्वप्रथम शब्दरूप पुद्गल-पर्याय का ही उल्लेख किया है।

पुद्गल के विशेष गुणों के कथन में भी जीव स्पर्शादि विषयों में आसक्त होकर दुःखी न हो; इस प्रयोजन (उद्देश्य) से ही स्पर्शादि गुणों का एवं शब्दादि पर्यायों का कथन किया है।

इसीप्रकार जिसमें चेतना अर्थात् ज्ञान-दर्शन पाया जाता है, उसे जीवद्रव्य कहते हैं हूँ इस लक्षण में तो जीव के मात्र दो ही गुणों की चर्चा है।

जैन सिद्धान्त प्रवेशिका में श्रद्धा, ज्ञान, दर्शन, चारित्र सुख, वीर्य, क्रियावती-शक्ति आदि विशेष गुण भी बताये हैं। समयसार में भी आत्मा की ४७ शक्तियों का वर्णन आया है।

क्षुल्लक सहजानन्दजी वर्णी ने भी अन्य अनेक गुणों का कथन किया है। आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजीस्वामी ने भी अपने प्रवचनों में आत्मा को अनन्त गुणों का गोदाम, शक्तियों का संग्रहालय कहा है।

एक द्रव्य में कितने गुण होते हैं, इसका स्पष्टीकरण करते हुए स्पष्ट इसप्रकार कहा है हूँ

जीवद्रव्य अनन्त हैं। जीव से अनन्तगुणे अधिक पुद्गल द्रव्य हैं। पुद्गल से अनन्तगुणे अधिक तीन काल के समय हैं। तीन काल के समय से अनन्तगुणे अधिक आकाश के प्रदेश हैं। आकाश के प्रदेशों से भी अनन्तगुणे अधिक किसी भी एक अर्थात् प्रत्येक द्रव्य में गुण पाये जाते हैं।

हूँ●हूँ

३

गुण का स्वरूप

आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र (अध्याय-५, सूत्र-४१) शास्त्र में गुण का लक्षण इसप्रकार दिया है हूँ 'द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः' हूँ जो द्रव्य के आश्रय से सदा रहते हैं और स्वयं अन्य गुणों से रहित हैं, वे गुण हैं।

जैन सिद्धान्त प्रवेशिका में गुण की सरल-सुबोध परिभाषा देते हुए पण्डित गोपालदासजी बैरैया ने लिखा है हूँ 'जो द्रव्य के सम्पूर्ण भागों में तथा उसकी सम्पूर्ण अवस्थाओं में रहते हैं, उन्हें गुण कहते हैं।'

जिसप्रकार मूल द्रव्य कभी भी अशुद्ध नहीं होता, उसीप्रकार जिन गुणों का समूहरूप द्रव्य है हूँ वे गुण भी कभी अशुद्ध नहीं होते अर्थात् गुण नियमपूर्वक स्वभाव से शुद्ध ही होते हैं; क्योंकि वे स्वतःसिद्ध एवं निरपेक्ष होते हैं।

गुण के सामान्य गुण व विशेष गुण हूँ ऐसे दो भेद तो हैं; किन्तु विभाव गुण व स्वभाव गुण अथवा शुद्ध गुण व अशुद्ध गुण ऐसे भेद नहीं हैं।

द्रव्य की तरह गुण भी अनादि-अनंत, अकृत्रिम एवं स्वयंभू तथा शुद्ध ही होते हैं।

यद्यपि द्रव्य का लक्षण बताने के लिए विशिष्ट असाधारण गुण का आधार लिया जाता है; तथापि ध्यान का विषय किसी भी द्रव्य का कोई एक सामान्य या विशेष गुण न होकर अनन्त गुणों के समूहरूप शुद्ध जीव द्रव्य ही लक्ष्य होता है। गुणों के द्वारा द्रव्य की ऐसी महिमा की जाती है, जिससे ध्यान का प्रयोजन सहजरूप से ही सिद्ध होता है।

पंचास्तिकाय संग्रह, गाथा १३ में द्रव्य एवं गुणों का सम्बन्ध आचार्य श्री कुन्दकुन्द ने सर्वांगरूप से इसप्रकार कहा है हूँ

(10)

“द्वेण विणा ण गुणा, गुणेहिं दव्वं विणा ण संभवदि ।

अव्वदिरित्तो भावो दव्वगुणाणं हवदि तम्हा ।।

अर्थात् द्रव्य बिना, गुण नहीं होते और गुण के बिना, द्रव्य नहीं होता; इसलिए द्रव्य और गुणों का अभिन्नपना है।”

इस कृति में जीव के मात्र श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र गुणों का स्वरूप ही स्पष्ट किया जा रहा है, अतः गुणों का परस्पर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध समझना भी बहुत आवश्यक है।

जैसे ह्व सुवर्ण में स्पर्श, रस, गंध आदि अनेक गुण एक साथ रहते हुए भी अपने-अपने स्वरूप से भिन्न ही हैं, उसीप्रकार श्रद्धा आदि अनन्त गुण एक जीव द्रव्य में रहते हुए भी वे अपने-अपने लक्षण से भिन्न-भिन्न ही हैं।

प्रत्येक गुण अन्य गुण से भिन्न होता है; इसका ज्ञान कराने के लिए ही आचार्य उमास्वामी ने ‘द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः’ ऐसा कहा है अर्थात् गुण, द्रव्य के आश्रय से रहते हैं और अन्य गुण से रहित होते हैं।

अनन्त गुणों का क्षेत्र एक ही द्रव्य होने पर भी वे अनन्त गुण अपने-अपने भिन्न-भिन्न लक्षण के कारण भिन्न-भिन्न ही अतत् रूप से रहते हैं एवं भिन्न-भिन्न ही अपने अर्थक्रियाकारित्वरूप कार्य करते हैं।

जीव के असंख्यात प्रदेशों में श्रद्धा आदि अनन्त गुण एक साथ सदा रहते हैं और अपने-अपने स्वभाव के अनुसार प्रत्येक समय में अलग-अलग कार्य करते हैं।

जिससमय श्रद्धा गुण के कारण प्रतीति, विश्वास, आस्था और रुचिरूप एक कार्य जीवद्रव्य में चलता रहता है, उसीसमय ज्ञान गुण द्वारा जानना, समझना भी चलता ही रहता है।

तथा उसीसमय चारित्र गुण भी अपनी स्वभावगत विशेषता से लीन होना, मग्न होना, रमण करना रूप इत्यादि कार्य करता ही रहता है। कोई भी गुण, कार्य अर्थात् परिणामन के बिना रहता ही नहीं।

यहाँ तो मात्र श्रद्धा आदि तीन प्रमुख गुणों को लेकर ही चर्चा चल रही है; परन्तु गुण तो अनन्त हैं और उन अनन्त गुणों का अपना-अपना अलग-अलग कार्य एक साथ चलता ही रहता है।

७. प्रश्न ह्व फिर आप विद्यमान अनन्त गुण और उनके अनन्तानन्त कार्य की चर्चा क्यों नहीं करते ? मात्र तीन गुणों की ही चर्चा क्यों कर रहे हैं ?

उत्तर ह्व अल्पज्ञता के कारण हमें अनन्त गुणों का ज्ञान नहीं हो सकता। अनन्त गुणों को जानने का कार्य तो केवलज्ञान से ही हो सकता है।

मति-श्रुतरूप अल्पज्ञान से हम मर्यादित गुणों को ही जान सकते हैं। उन मर्यादित गुणों में भी जिनसे हमारा मोक्षमार्ग का मूल प्रयोजन सिद्ध हो, उन गुणों की ही हम यहाँ चर्चा कर रहे हैं।

८. प्रश्न ह्व द्रव्य में अनन्त गुणों का रहना और उनका अलग-अलग कार्य होना ह्व क्या यह मात्र जीवद्रव्य में ही होता है? या अन्य पुद्गलादि अजीव द्रव्यों में भी होता है ?

उत्तर ह्व हाँ ! पुद्गलादि सभी द्रव्यों में यह कार्य निरन्तर अवश्य होता ही रहता है; तथापि उनसे हमारा किसी भी प्रकार से मोक्षमार्ग का प्रयोजन सिद्ध न होने से यहाँ उन पुद्गलादि द्रव्यों की तथा उनमें विद्यमान अनन्तगुणों की चर्चा हमें अपेक्षित नहीं है; वे द्रव्य एवं उनके गुण यहाँ गौण हैं। तथापि जिज्ञासु पाठकों के हितार्थ संक्षेप में उसका स्वरूप निम्नानुसार हम दे रहे हैं ह्व

पुद्गल में स्पर्श, रस, गंध, वर्ण इत्यादि अनन्त विशेष गुण रहते हैं और उनका अपना-अपना, अलग-अलग कार्य भी चलता ही रहता है।

जैसे ह्व कच्चा आम एक पुद्गल पिण्ड है। उस आम में स्पर्श, रस, गंध और वर्ण आदि विशेष गुण हैं। स्पर्श गुण में जिस समय कठोरता से कोमलता का परिणामरूप कार्य हो रहा है; उसीसमय उस कच्चे आम

का हरा वर्ण भी धीरे-धीरे पीत वर्ण में बदल रहा है। उसीसमय उसी कच्चे आम का खट्टा रस भी मधुरता में परिणम रहा है।

यहाँ ध्यान रखना चाहिए कि स्पर्श गुण में परिणमन हो रहा है, इसलिए रस गुण भी परिणम रहा हो वह ऐसा नहीं है; अपितु इन स्पर्शादि गुणों में जो परिणमन हो रहा है, वह अपने-अपने कारण से स्वतंत्ररूप से एवं स्वाधीनता से हो रहा है।

इसप्रकार जीव द्रव्य में जिस तरह ज्ञानादि अनंतगुण अपने स्वभाव से स्वतंत्ररूप से रहते हुए भी भिन्न-भिन्नरूप से ही परिणमते हैं। उसीप्रकार पुद्गल द्रव्य में भी यह कार्य निरन्तर होता ही रहता है। धर्मादि अरूपी द्रव्यों में भी ये सब कार्य इसीप्रकार होते ही रहते हैं।

ह०ह

ज्ञान में भव नहीं है

- जिसने मन के अवलम्बन से प्रवर्तमान ज्ञान को मन से छुड़ाकर अपनी ओर किया है अर्थात् जो मतिज्ञान, पर की ओर जाता था, उसे मर्यादा में लाकर आत्मसन्मुख किया है, उसके ज्ञान में अनन्त संसार का नास्तिभाव और ज्ञानस्वभाव का अस्तिभाव है।
- सच्ची समझ अर्थात् यथार्थ ज्ञान करने में अनन्त पुरुषार्थ है।
- स्वभाव में भव नहीं है; इसलिये जिसके स्वभाव की ओर का पुरुषार्थ जागृत हुआ है; उसे भव की शंका नहीं रहती।
- जहाँ भव की शंका है, वहाँ सच्चा ज्ञान नहीं है, जहाँ सच्चा ज्ञान है वहाँ भव की शंका नहीं है।
- यथार्थ ज्ञान और भव की एक-दूसरे में नास्ति है।

ह आध्यात्मिक सत्पुरुष श्रीकानजीस्वामी



पर्याय का स्वरूप

वास्तव में द्रव्य एवं गुण का ज्ञान करने के लिए पर्याय ही एक मात्र साधन है। द्रव्य और गुण दोनों – अपना परिचय कराने में असमर्थ हैं; क्योंकि वे सामान्य शक्ति के रूप से सदा एकरूप बने रहते हैं। अतः द्रव्य एवं गुणों का परिचय पर्याय से ही हो सकता है।

इतना ही नहीं पर्याय का परिचय भी पर्याय से ही प्राप्त होता है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि द्रव्य, गुण एवं पर्याय हूँ इन तीनों का परिचय भी ज्ञानपर्याय द्वारा ही प्राप्त होता है।

यदि दुनियाँ में पर्याय नामक पदार्थ/अर्थ नहीं होता तो द्रव्य, गुण व पर्याय का परिचय ही नहीं होता; क्योंकि पर्याय ही मुखर/प्रगट/व्यक्त है। द्रव्य और गुण तो सतत मौन/अप्रगट/अव्यक्त ही अर्थात् शक्तिरूप से ही रहते हैं।

पर्याय का लक्षण देते हुए आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र (अध्याय-५, सूत्र-४२) में कहा है ह 'तद्भावः परिणामः।' उसका होना अर्थात् द्रव्य का प्रति समय बदलते रहना परिणाम/पर्याय है। परिणाम, पर्याय-व्यतिरेक का ही दूसरा नाम है।

जिस द्रव्य का जो स्वभाव है, उसी द्रव्य के भीतर उसी के स्वभाव में स्वभाव के अनुरूप ही जो सहज बदल/परिवर्तन होता है, उसे पर्याय कहते हैं।

जैसे सुवर्ण धातु, हार से अंगुठी और अंगुठी से कड़ा, कुंडल आदि अन्य किसी भी आभूषणरूप परिवर्तित होता रहता है; वैसे ही प्रत्येक द्रव्य अपनी धारा के भीतर परिवर्तन करता रहता है।

यहाँ ऐसा नहीं समझना चाहिए कि द्रव्य-गुण अलग रहता है और उसकी पर्याय कहीं अन्य स्थान पर अलग रहती है; अपितु प्रत्येक द्रव्य का स्वरूप ही ऐसा है कि वह स्वयं अपने स्वभाव का त्याग किये बिना प्रति समय भिन्न-भिन्न अवस्था को प्राप्त होता है।

जीव ज्ञानस्वभावी है, वह अपने ज्ञानस्वभाव का त्याग किए बिना अन्य-अन्य गति आदि में परिभ्रमण करता है।

पर्याय की परिभाषा अत्यन्त सुलभ शब्दों में गुरु गोपालदासजी बरैया ने जैन सिद्धान्त प्रवेशिका में इसप्रकार बताई है ह

“गुणों के कार्य अर्थात् परिणामन को पर्याय कहते हैं।”

इसप्रकार द्रव्य, गुण व पर्याय का स्वरूप कहा। इस विश्व में अनन्तगुण और अनन्तानन्त पर्यायों से युक्त द्रव्य जाति अपेक्षा से छह प्रकार के हैं ह १. जीव द्रव्य, २. पुद्गल द्रव्य, ३. धर्मद्रव्य, ४. अधर्मद्रव्य, ५. आकाशद्रव्य और ६. काल द्रव्य।

१. प्रश्न ह जैसे द्रव्य के छह भेद हैं, वैसे पर्याय के भी भेद होंगे, वे कौन-कौन से हैं? स्पष्ट करें।

उत्तर ह हाँ! पर्याय के भी अनेक भेद हैं। उनकी अलग-अलग अपेक्षाएँ है। अर्थपर्याय और व्यंजनपर्याय ह इन दोनों को क्रमशः गुणपर्याय और द्रव्यपर्याय भी कहते हैं।

इसके अतिरिक्त स्वभावपर्याय और विभावपर्याय ऐसे दो भेद भी हैं। प्रकरणवश यहाँ स्वभावपर्याय और विभावपर्याय की मुख्यता है, अतः उनकी ही चर्चा करते हैं। इनमें भी हमें जीवद्रव्य की पर्यायों की ही मुख्यता है, इसलिए जीव को लेकर ही यहाँ विचार करते हैं।

स्वभावपर्याय ह जीव की जिस पर्याय में कर्म का उदय निमित्त न हो, उसे (परनिरपेक्ष) स्वभावपर्याय कहते हैं।

विभावपर्याय ह जीव की जिस पर्याय में कर्म का उदय निमित्त हो, उसे (परसापेक्ष) विभावपर्याय कहते हैं।

श्रद्धादि गुणों का कार्य बताते हैं ह

श्रद्धा ह श्रद्धा किसी-न-किसी एक में अहंपना करती है। एकत्वबुद्धि, ममत्वबुद्धि, कर्तृत्वबुद्धि एवं भोक्तृत्वबुद्धिरूप कार्य भी श्रद्धा का ही है। (यहाँ बुद्धि का अर्थ मान्यता लेना है।)

प्रतीति, रुचि, मान्यता, अभिप्राय समर्पण इन शब्दों का उपयोग भी श्रद्धा के लिए किया जाता है।

ज्ञान ह जानना, स्वसंवेदन करना, विशेष प्रतिभास होना, झलकाना, स्व-पर प्रकाशन इत्यादि कार्य ज्ञान करता है।

चारित्र ह स्वरूप में रमना, जमना, अनुभवना, स्थिर होना, मग्न होना, लीन होना, तन्मय होना यह कार्य, चारित्र गुण का है।

इसी को निम्नप्रकार भी समझ सकते हैं ह

श्रद्धा का कार्य (धर्म) (मैंपना, मैं मानना) मानना है।

ज्ञान का कार्य (धर्म) जानना है।

चारित्र का कार्य (धर्म) लीनता, स्थिरता करना है।

लोक में कहावत है ह सूझ, बूझ, रीझ से काम लेना चाहिये।

सूझना = दिखाई पड़ना, बूझना = जानकारी हासिल करना, निर्णय, रीझना = तल्लीन हो जाना-तन्मयता।

जैसे ह कोई पथिक (राहगीर) किसी अन्य व्यक्ति से टकरा जाता है तो उसे कहा जाता है कि क्या सूझता नहीं है? रास्ता भूल गये हो तो बूझ क्यों नहीं लेते?

इसीप्रकार इस भ्रमित बुद्धिवाले संसारी जीव को सुखी होने का उपाय सूझता नहीं है और भेड़चाल से गतानुगतिक लोक की तरह इन्द्रिय विषयों के पीछे अंधा हो दौड़ रहा है, इधर-उधर टकराता फिरता है ह लड़ना-झगड़ना चालू रखता है। कभी क्रोध, तो कभी मान, कभी मायाचार और कभी लोभ भाव कर-करके दुःखी होता रहता है। फिर भी विचार नहीं करता कि सच्चा, स्वाधीन निराकुल सुख कहाँ से व कैसे मिलेगा?

संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीव में विचार करने की शक्ति तो है, निर्णय कर सकने की प्रगट ज्ञान शक्ति है, यही एक महान पावर (सामर्थ्य) इसके हाथ में है, जिसके सदुपयोग से यह सच्चे सुख का मार्ग पा सकता है।

जिनागमानुसार सर्व संसारी अज्ञानी जीवों में अनादि ही से तीन प्रकार के असाधारण भाव/परिणाम पाये जाते हैं।

पहला ह ज्ञान-दर्शन-वीर्य का क्षायोपशमिक भाव, दूसरा ह श्रद्धा व चारित्र का मोह-राग-द्वेषरूप औदयिक भाव तथा तीसरा ह शुद्ध जीवत्व शक्तिरूप परमपारिणामिक भाव।

इन तीन भावों में से विचार अर्थात् निर्णय करने की शक्ति एक मात्र ज्ञान में है।

१०. प्रश्न हूँ आपने अभी तक पर्याय के लिए कहीं कार्य, कहीं परिणामन, कहीं बदलना हूँ इन शब्दों का प्रयोग किया है। आप इनके लिए एक ही शब्द का प्रयोग करेंगे तो यह विषय हमें और अधिक सुलभता से समझ में आयेगा।

उत्तर हूँ आपकी बात सही है। इन तीनों शब्दों का अर्थ पर्याय (अवस्था) ही है।

पर्याय के लिए अन्य भी अनेक नाम जिनवाणी में प्रचलित हैं हूँ जैसे हूँ हालत, दशा, अवस्था, परिणाम, परिणामन, पलटना, उत्पाद, व्यय, व्याप्य, कार्य, व्यतिरेक, कर्म हूँ ये सभी पर्याय के ही पर्यायवाची नाम हैं। अन्वय के व्यतिरेक को भी पर्याय कहते हैं। द्रव्य के धर्म या अंश को भी पर्याय कहा गया है। वस्तुतः पर्याय तो एक समयवर्ती ही होती है।

अब आगे पर्याय शब्द का ही प्रयोग करने का प्रयास करेंगे और पर्याय का स्वरूप भी विशेषरूप से स्पष्ट करेंगे।

११. प्रश्न हूँ सम्यग्दर्शन, मिथ्यादर्शन, मोक्षमार्ग, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्-चारित्रादि पर्यायों का कम से कम (जघन्य) काल अंतर्मुहूर्त ही शास्त्र में कहा गया है, इसमें भी क्या कुछ खास कारण है? हो तो वह भी बताइए।

उत्तर हूँ हाँ, खास कारण है। किसी भी जीव की सम्यग्दर्शनादि की पर्याय १, २, ३, ४ आदि समयों की कभी नहीं होती। सम्यग्दर्शन की पर्यायों का जघन्य काल भी प्रवाहरूप से नियम से अंतर्मुहूर्त होता ही है। अर्थात् अन्तर्मुहूर्त के पहले १, २, ३, ४ आदि संख्यात समयों की पर्याय छद्मस्थ को अनुभाव्य (ज्ञात) नहीं होती।

उसीतरह किसी के भी मिथ्यादर्शन का (नवीनरूप से मिथ्यादर्शनरूप पर्याय उत्पन्न हो तो) काल भी प्रवाहक्रम से^१ अंतर्मुहूर्त से कम काल का होता ही नहीं।

मोक्षमार्ग, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र के संबंध में भी जघन्य काल सजातीय संतति की अपेक्षा से अंतर्मुहूर्त ही समझना चाहिए। ये

१. प्रवाहक्रम से शब्द का अर्थ हूँ १, २, ३, ४, समय को जोड़-जोड़ कर मुहूर्त, अंतर्मुहूर्त, घड़ी, घंटा, दिवस आदि व्यवहार काल बनता है।

पर्यायें भी किसी जीव को १, २ आदि समय मर्यादा की नहीं होती। इन पर्यायों की पर्यायगत पात्रता ही ऐसी है कि इनका जघन्य काल सामान्यता अंतर्मुहूर्त ही होता है।^१

विशेष अवसर पर (मरण के समय) मिथ्यात्व, सम्यक्त्व पर्यायों का १, २, समय का काल भी होता है, यह सूक्ष्म विवक्षा हमें मान्य हैं।

विश्व अनादि-अनंत है। द्रव्य अनादि-अनंत है। प्रत्येक द्रव्य का प्रत्येक गुण अनादि-अनंत है। जो-जो अनादि-अनंत होता है, वह नियम से अकृत्रिम, स्वयम्भू और सहज एवं स्वभाव से शुद्ध होता है, उसको बनानेवाला कोई कर्ता नहीं होता।

जिसका कोई कर्ता/उत्पादक नहीं होता, उसका कोई रक्षक व नाश करनेवाला भी नहीं होता है।

इसीप्रकार प्रत्येक द्रव्य में प्रतिसमय जो परिवर्तन होता है, उसे पर्याय कहते हैं। यह पर्याय सादि-सांत होती है, प्रति समय नई-नई उत्पन्न होती है, अतः उस पर्याय का कोई न कोई कर्ता अवश्य होना चाहिए; क्योंकि कार्य, (पर्याय) कर्ता के बिना नहीं होता।

वस्तु-व्यवस्था के अनुसार सूक्ष्मता से विचार करने पर यह प्रतीत होता है कि अपने काल में होनेवाली प्रत्येक पर्याय अपने ही कारण से होती है। इसे ही पर्यायगत योग्यता कहते हैं। अर्थात् पर्याय का कर्ता पर्याय है।

प्रवचनसार गाथा १०२ की टीका में इसे ही पर्याय का 'जन्मक्षण' कहा है हूँ इस शब्द से यह विषय विशेषरूप से स्पष्ट होता है।

प्रत्येक समय की पर्याय अपने कारण से सत् है, इस विषय के विशेष ज्ञान के लिए आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी के प्रवचनसार गाथा ९९, १००, १०१ पर हुए प्रवचन पदार्थ विज्ञान नाम से पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट से प्रकाशित है, उसे अवश्य देखें।

इतना जरूर है कि द्रव्य की जब-जब कोई भी पर्याय/अवस्था होती है, उस समय उस पर्याय की उत्पत्ति में अन्य द्रव्य की कोई-न-कोई अनुकूल पर्याय अवश्य होती है, जिसे निमित्त कहते हैं और उस निमित्त को ही उत्पन्न होनेवाली पर्याय/कार्य का निमित्त कर्ता असद्भूत व्यवहार से कहा जाता है।

१. श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र का स्वरूप आगे स्वतंत्र रूप से दिया गया है।

५

कर्ता-कर्म

हम यहाँ घटरूप कार्य को पर्यायरूप से स्वीकार कर दृष्टान्त देते हैं। जैसे ह घट, मिट्टी से उत्पन्न हुआ है। उस घट का वास्तविक कर्ता तो मिट्टी स्वयं है; क्योंकि मिट्टी स्वयं घटरूप से परिणमित हुई है; लेकिन जब-जब मिट्टी से घट बनता है, तब-तब कुम्हार का योग और उपयोग (इच्छा) उस घट को बनाने में निमित्त है, यह जानकर घट का कर्ता कुम्हार को मानने की इस दुनिया की बहिरंगदृष्टि से स्थूल धारणा है।

जैसे ह घट बनने में चक्र, डोर, पानी आदि भी निमित्त हैं; लेकिन जो स्वयमेव चेतन है, सक्रिय है, जानकार है ह ऐसे कुम्हार के ही योग और उपयोग को व्यवहार से निमित्त कर्ता कहा जाता है।^१

कार्य में जो वस्तु निमित्त होती है, उसे लेकर अज्ञानी जीव अहंकार ममकार करते रहते हैं।

जैसे ह सार्वजनिक धर्मशाला समाज ने बनवायी, उसमें अनेक लोग निमित्त हैं। दातारों के दान के बिना धर्मशाला बनेगी कैसे? कारीगर चाहिए ही चाहिए। नगर-निगम अथवा ग्रामपंचायत की अनुकूलता के बिना भी धर्मशाला नहीं बनेगी। इंजीनियर तो सबसे पहले आवश्यक होता है; साथ ही साथ आर्किटेक्ट भी इन दिनों में अनिवार्य माना जाता है। मुकादम (पर्यवेक्षक) अर्थात् ओवरसियर और मजदूर तो अत्यन्त आवश्यक हैं। इनमें से प्रत्येक व्यक्ति कहेगा की 'मैंने, हमने यह बिल्डिंग बनायी।'

जो-जो ईंट, सीमेंट, लोहा आदि मूल उपादान वस्तुएँ जो स्वयमेव बिल्डिंगरूप से परिणत हो गये हैं, उनका तो कोई नाम लेने के लिए भी तैयार नहीं है। जो-जो व्यक्ति निमित्त हैं, उनमें मैंने बनाई, मैंने बनाई,

^१ समयसार गाथा १०० की टीका।

ऐसा कहने एवं मानने के लिए सब आगे-आगे आते ही रहते हैं।

इसलिए मूल वस्तु जो स्वयं कार्य/पर्यायरूप से परिणमित होती है, वही उपादान कर्ता है। उसकी मुख्यता से जानना ही वास्तविक जानना है।

कर्ता के सम्बन्ध में जिनवाणी में तीन प्रकार के कथन मिलते हैं :ह

१. द्रव्य, पर्याय का कर्ता है।

२. गुण, पर्याय/कार्य का कर्ता है।

३. पर्याय ही पर्याय की कर्ता है।

इन तीनों कथनों को शास्त्र के आधार से समझने का यत्न करते हैं ह

१. द्रव्य को पर्याय का कर्ता कहते हैं; क्योंकि द्रव्य में से ही पर्याय उत्पन्न होती है ह द्रव्य के आधार से ही पर्याय प्रगट होती है। समयसार कलश क्रमांक ५१ में आचार्य श्री अमृतचन्द्र ने 'यः परिणमति स कर्ता' ह ऐसा कहा है। अर्थात् जो परिणमित होता है वह (द्रव्य) कर्ता है। कलश ४९ में भी आचार्य श्री लिखते हैं ह

“व्याप्यव्यापकता तदात्मनि भवेन्नैवातदात्म्यन्यपि।

व्याप्यव्यापकभावसंभवमृते का कर्तृकर्मस्थिति :।।

अर्थात् व्याप्यव्यापकता तत्स्वरूप में ही होती है, अतत्स्वरूप में नहीं होती और व्याप्यव्यापकभाव के बिना कर्ताकर्म की स्थिति कैसी? अर्थात् कर्ताकर्म की स्थिति नहीं ही होती।”

इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि द्रव्य व्यापक है और पर्याय व्याप्य है। अतः द्रव्य कर्ता है एवं पर्याय कर्म है।

इसतरह एक ही द्रव्य और उसकी ही पर्याय में कर्ता-कर्म सम्बन्ध है, अन्य द्रव्यों में किसी प्रकार से कर्ता-कर्म सम्बन्ध हो ही नहीं सकता।

तात्पर्य यह है कि उत्पन्न हुई पर्याय (व्याप्य) का कर्ता, व्यापकरूप द्रव्य को छोड़कर जो द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव से भिन्न परवस्तु है, वह किसी भी परिस्थिति में पर्याय का कर्ता नहीं बन सकती।

२. गुण को पर्याय का कर्ता कहते हैं, यह 'गुण के परिणमन/कार्य/विकार (विशेष कार्य) को पर्याय कहते हैं', ह इस परिभाषा से ही स्पष्ट होता है। आलाप पद्धति में पर्याय अधिकार के सूत्र क्रमांक १५ में कहा भी है ह "गुणविकाराः पर्यायाः।" इसका अर्थ है ह गुणों के विकार (विशेष कार्य) को पर्याय कहते हैं।

द्रव्य के परिणमन को पर्याय कहते हैं ह यह द्रव्यार्थिकनय अर्थात् अभेदनय का कथन है और गुण के परिणमन (कार्य, विकार) को पर्याय कहते हैं ह यह पर्यायार्थिक अथवा भेदनय का कथन है ह ऐसा समझना चाहिए।

गुणों के समूह को द्रव्य कहते हैं ह ऐसा जो अभेद कथन है ह उसी द्रव्य में ही भेद करके किसी एक गुण की मुख्यता से गुण के परिणमन को पर्याय कहते हैं तथा उस पर्याय का कर्ता गुण को ही बताया जाता है।

गुण को कर्ता कहने में अभिप्राय यह है कि एक गुण की पर्याय का कर्ता दूसरा गुण नहीं होता है। जैसे ह श्रद्धा गुण की पर्याय का कर्ता ज्ञान गुण नहीं होता है व ज्ञान गुण की पर्याय का कर्ता श्रद्धा गुण नहीं होता है।

३. पर्याय को पर्याय का कर्ता कहते हैं ह द्रव्य को अथवा गुण को विवक्षावश पर्याय का कर्ता न कहते ह न मानते हुए पर्याय को पर्याय का कर्ता कहते हैं, यह विषय जिनवाणी में स्पष्ट शब्दों में मिलता है।

आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा रचित प्रवचनसार ग्रंथ की गाथा १०२ की अमृतचन्द्राचार्यकृत संस्कृत टीका में यह विषय अत्यन्त विशदता से आया है। इस टीका में प्रत्येक पर्याय का अपना-अपना जन्मक्षण भिन्न-भिन्न ही होता है, यह विषय बताया गया है।

पर्याय का कर्ता द्रव्य को अथवा गुण को मानने में भी परावलम्बन की आपत्ति आ जाती है; स्वतंत्रता में बाधा आती है। इसलिए जो

पर्याय जिस समय प्रगट हो गयी, वही पर्याय उस पर्याय का कर्ता है, यह माना गया है। इसे ही पर्यायगत योग्यता भी कहते हैं। इसी को वस्तु-स्वरूप के स्वतंत्रता की पराकाष्ठा भी कहना योग्य है।

विश्व में अनंतानंत द्रव्य हैं। उनमें प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने स्व-चतुष्टय से (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव) भिन्न-भिन्न ही है, यह कथन वस्तुनिष्ठ है। एक द्रव्यगत अनंत गुण-संज्ञा, संख्या, लक्षण व प्रयोजन की अपेक्षा परस्पर भिन्न (अन्य) ही हैं; भले उन सब गुणों का द्रव्य, क्षेत्र, काल एक हो, तथापि अतद् भाव की अपेक्षा प्रत्येक गुण भिन्न (अन्य) ही है।

उसी तरह प्रत्येक समय में प्रगट होने वाली पर्याय भी अपने-अपने काल में अपनी-अपनी पर्यायगत योग्यता के कारण भिन्न (अन्य) ही है अर्थात् पूर्व पर्याय में से उत्तर पर्याय नहीं आती और वर्तमानकालीन पर्याय में से भविष्यकालीन पर्याय उत्पन्न नहीं होती, यह वास्तविक वस्तु का स्वरूप है।

यदि कोई द्रव्य एवं गुण को तो स्वतंत्र सत् माने, परन्तु प्रत्येक पर्याय को अपने समयगत/पर्यायगत काल का सत् न माने अर्थात् किसी द्रव्य की किसी भी पर्याय को परतंत्र माने, तो उसने द्रव्य एवं गुण को भी परतंत्र ही मान लिया है, ऐसा समझना अनिवार्य हो जाता है।

स्वतंत्रता ह वस्तु स्वातंत्र्य तो जिनधर्म का मूल सिद्धान्त है, प्राण है, सर्वस्व है।

यदि किसी भी एक द्रव्य, एक गुण अथवा एक पर्याय को कोई जीव परतंत्र स्वीकार करेगा, तो वह व्यक्ति मोक्षमार्ग प्रगट करने में भी स्वाधीन/स्वतंत्र नहीं हो सकेगा। यदि मोक्षमार्ग प्रगट नहीं कर पायेगा, तो मोक्ष भी कैसे प्राप्त कर सकेगा?

इसलिए द्रव्य एवं गुण के समान ही पर्याय को भी लक्षण दृष्टि से स्वतंत्र मानना आवश्यक है।

१२. प्रश्न ह्व पर्याय मात्र एक समयवर्ती ही होती है, यह विषय हमें स्पष्ट समझ में नहीं आया; कृपया स्पष्ट करें।

उत्तर ह्व पर्याय वास्तविक एक समयवर्ती ही होती है; यह विषय अति स्पष्ट है। प्रत्येक द्रव्य में प्रतिसमय उत्पाद होता है और व्यय भी होता है, यह विषय आप मानते हो या नहीं? यदि नहीं मानोगे तो द्रव्य का स्वरूप ही नहीं बनेगा।

द्रव्य सत्स्वरूप है। आचार्य उमास्वामी ने 'सद् द्रव्यलक्षणम्' ऐसा सूत्र कहा है और इसे ही स्पष्ट करते हुए आगे फिर एक सूत्र लिखते हैं ह्व 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' जो सत् कहा गया है, वह कूटस्थ अर्थात् सर्वथा नित्य नहीं है; परन्तु कथंचित् नित्य तथा कथंचित् अनित्य है।

वस्तु में पर्याय की अपेक्षा प्रतिसमय नयी अवस्था उत्पन्न होती है, पुरानी अवस्था नष्ट होती है और वस्तु, द्रव्यरूप से कायम बनी रहती है; ह्व ऐसा द्रव्य का स्वरूप है।

इसलिए प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय (अवस्था) एक समयवर्ती ही होती है; यह निश्चित है।

निरन्तर प्रवाह क्रम की अपेक्षा अधिक काल तक एक समान अवस्था होने के कारण पर्याय (अवस्था) को कदाचित् अधिक काल पर्यंत टिकनेवाली होने से आगम में उसको व्यंजनपर्याय भी कहते हैं। नर-नारकादि व्यंजन-पर्याय को सादि-सान्त कहा जाता है। भव्य जीव की संसार पर्याय अनादि-सान्त एवं समान-समानरूप से अवस्था रहने के कारण अभव्य जीव की संसार पर्याय को अनादि-अनंत कहा एवं माना जाता है। विवक्षा के अनुसार सब कथन सत्य है।

(17)

अस्तु। उक्त विषय को विशेष जानने के लिए पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट से प्रकाशित 'निमित्त-उपादान' और 'मूल में भूल' कृतियों का अध्ययन अवश्य करें।

इसप्रकार द्रव्य, गुण, पर्याय तथा कर्ता-कर्म का स्वरूप संक्षेप में स्पष्ट करने का प्रयास किया है। जीव जब द्रव्यादि की स्वतंत्रता स्वीकार करेगा तब ही सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिए पात्र होगा। स्वतंत्रता/स्वाधीनता तो जिनधर्म का मर्म है। उसे जो जीव मान्य ही नहीं करेगा वह साधारणरूप से भी जिनधर्म का श्रद्धालु नहीं हो सकेगा। स्वतंत्रता जिनधर्म का प्राण है।

१३. प्रश्न ह्व आपने प्रारम्भ में बताया था कि (प्रथम प्रश्न के ही उत्तर में) श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र ह्व इन तीन गुणों की समीचीनता (सम्यक्त्व) की उत्पत्ति, विकास एवं पूर्णता की मुख्यता से चर्चा करेंगे; तथापि आपने मूल विषय को छोड़कर द्रव्य, गुण, पर्याय एवं कर्ता-कर्म के प्रकरण में उलझ गये हो, ऐसा हमें लग रहा है?

उत्तर ह्व नहीं, आप समझ रहे हो वैसा नहीं है। सम्यग्दर्शनादि की भूमिका बने, इसलिए द्रव्यादि का स्वरूप संक्षेप में बताया है। अब हम इससे आगे तत्काल श्रद्धागुण का स्वरूप तथा पूर्णता के विषय को ही स्पष्ट कर रहे हैं।

[इति भूमिका समाप्त]

ह्व●ह्व

अनमोल वचन

- आत्मा का निर्णय कारण है और आत्मा का अनुभव कार्य है।
- जो निर्णय करता है उसे अनुभव होता ही है।

ह्व आध्यात्मिक सत्पुरुष श्रीकानजीस्वामी

पहला भाग

श्रद्धा गुण का स्वरूप

१. श्रद्धा, ज्ञान द्वारा निर्णीत पदार्थ को स्वीकार करती है। श्रद्धा निर्णय नहीं करती, निर्णय करना ज्ञान का कार्य है।
२. प्रतीति करना/रुचि रखना ही श्रद्धा का एक मात्र कार्य है। श्रद्धा को रुचि भी कहते हैं। श्रद्धा तथा ज्ञान में अतद्भाव है।
३. प्रतीति करना श्रद्धा का धाराप्रवाहरूप कार्य है, भले शुभोपयोगादि कोई भी उपयोग हो।
४. निज भगवान आत्मा में अपनापन करना ही सम्यग्दर्शन है। इस अपेक्षा से श्रद्धा का श्रद्धेय एक मात्र निज शुद्ध आत्मा ही रहता है, ऐसा भी कथन होता है।
५. श्रद्धा गुण में मुख्य गौण नहीं होता।
६. श्रद्धा गुण के परद्रव्य में अपनेपन को मिथ्यादर्शन कहते हैं, यह संसार का कारण है।
७. श्रद्धा गुण के सम्यक् परिणमन को सम्यग्दर्शन कहते हैं। इससे ही अनंत संसार सान्त होता है तथा मोक्षमार्ग का प्रारम्भ होता है। सम्यग्दर्शन ही धर्म का मूल है।
८. श्रद्धा का सम्बन्ध जानने से न होने के कारण श्रद्धा में प्रमाण, नय निक्षेप नहीं होते।
९. विचार करना, चिन्तन-मनन करना श्रद्धा के क्षेत्र में नहीं है।

१०. श्रद्धा यथार्थ हो तो उसके निमित्त से अन्य अनन्त गुणों में सम्यक्पना आता है और अयथार्थ हो तो अन्य अनन्त गुणों में मिथ्यापना आता है।
११. श्रद्धा सम्यक् हो अथवा मिथ्या, उसका स्वरूप समर्पण है।
१२. पर्याय में यथार्थ श्रद्धा का घातक कर्म दर्शनमोहनीय है।
१३. श्रद्धा गुण, अनन्त गुणों में प्रमुख/नेता/प्रभावक/ खेवटिया है।
१४. सम्यग्दर्शन को भले कर्म सापेक्ष औपशमिक, क्षायोपशमिक अथवा क्षायिक नाम से कहा जाता है, तथापि तीनों सम्यग्दर्शनों में (अपने विषय) प्रतीति की अपेक्षा से समानता ही रहती है।
१५. ज्ञान गुण की मुख्यता से जीव, अजीव आदि सातों तत्त्वों के श्रद्धान को भी अभूतार्थनय से सम्यग्दर्शन कहते हैं।
१६. प्रवचनसार की टीका में आचार्यश्री जयसेन ने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप ज्ञेय तत्त्व के यथार्थ ज्ञान को सम्यग्दर्शन कहा है।
१७. सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के स्वरूप के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं। (चरणानुयोग पद्धति से)
१८. सासादन सम्यक्त्वरूप विपरीतता तथा सम्यग्मिथ्या-त्वरूप विपरीतता भी श्रद्धा गुण की मलिन पर्यायरूप से मानी गयी है।
१९. श्रद्धा गुण की सम्यग्दर्शनरूप पूर्णता चौथे, पाँचवें अथवा सातवें गुणस्थान में उत्पत्ति के साथ ही होती है।
२०. आचार्यश्री कुन्दकुन्ददेव ने दंसणमूलो धम्मो (सम्यग्दर्शन ही धर्म का मूल है) ह इन शब्दों में सम्यग्दर्शन की महिमा स्पष्ट की है।

सम्यग्दर्शन की पूर्णता

(उत्पत्ति के साथ)

सम्यक्त्व कहो अथवा सम्यग्दर्शन कहो एक ही है। यह श्रद्धा गुण की स्वाभाविक पर्याय है। जीव द्रव्य के अनंत गुणों में श्रद्धा गुण का स्वरूप भिन्न है। इसप्रकार प्रत्येक गुण का लक्षण दृष्टि स्वरूप भिन्न-भिन्न ही है।

श्रद्धा गुण के सम्यक् परिणामन से अनंत संसार सांत होता है और मोक्षमार्ग प्रारंभ होता है, इतना भी कथन सम्यक्त्व की महत्ता के लिए कम नहीं है।

सम्यग्दर्शन पर्याय ऐसी अलौकिक एवं अद्भुत है कि वह अनंत गुणों के सम्यक् रूप से परिणामन में निमित्त होती है। इस विशेषता से भी आश्चर्यकारी यह स्वरूप है कि वह सम्यक्त्व किसी भी जीव को किसी भी गति में आधा-अधूरा होता ही नहीं।

जब भी किसी संज्ञी पर्याप्तक जीव के सम्यक्त्व प्रगट होता है, तब वह पूर्णरूप से ही प्रगट होता है। आधा-अधूरापन सम्यक्त्व पर्याय के साथ कभी हो ही नहीं सकता।

१४. प्रश्न हूँ कोई यहाँ पूछ भी सकता है कि ऐसा क्यों है? उसके उत्तर में 'स्वभावगत विशेषता है' हूँ यही कहना संभव है, अन्य कोई उत्तर किसी के पास भी नहीं है।

अब यहाँ श्रद्धा/सम्यक्त्वरूप पर्याय का वर्णन करते हैं।

श्रद्धा गुण की दो पर्यायें होती हैं हूँ १) स्वभावपर्याय २) विभावपर्याय। जीव के श्रद्धा गुण की स्वभावपर्याय को सम्यग्दर्शन और विभावपर्याय को मिथ्यादर्शन कहते हैं। स्वभावपर्याय जीव के लिए अतीन्द्रिय रूप से सुखदायक होती है और विभावपर्याय दुःखदायक होती है।

१५. प्रश्न हूँ उत्पन्नध्वंसी पर्याय तो एक समयवर्ती होती है, सादि-सांत होती है, उसकी चर्चा करने से क्या लाभ है ?

उत्तर हूँ पर्याय मात्र क्षणध्वंसी/एक समयवर्ती ही होती है हूँ ऐसा समझना यथार्थ है। सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा से प्रत्येक पर्याय एक समयवर्ती ही होती है; किन्तु इस नय की अपेक्षा से व्यवहार नहीं चलता।

चर्चा के लिए अथवा समझने-समझाने के लिए एक समयवर्ती सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय के विषय से कुछ लाभ नहीं है। इसलिए स्थूल ऋजुसूत्रनय का प्रयोग किया जाता है। हम मनुष्य हैं, यह भी स्थूल ऋजुसूत्र नय का विषय है।

अनादि-अनन्त पर्याय भी पर्यायार्थिक नय का विषय है। जैसे हूँ आलापपद्धति शास्त्र में अनादि-नित्य पर्यायार्थिक नय के विषय का उदाहरण मेरूपर्वत दिया है।^१

यहाँ मेरूपर्वत पुद्गलद्रव्य की समान जातीय स्कन्धरूपद्रव्य पर्याय है; किन्तु वह पर्याय होते हुए भी अनादि से है और अनन्त काल पर्यंत सामान्य रूप से वैसी ही रहनेवाली है। "फिर भी उनमें से कितने ही परमाणु भिन्न होते हैं, कितने ही नये मिलते हैं। इसप्रकार मिलना-बिछुड़ना होता रहता है।" (मो. प्र. पृष्ठ २२)। अकृत्रिम जिनबिम्ब, समुद्र, पर्वत, द्वीप आदि को भी यहाँ अनादि-नित्य पर्यायरूप ही समझना चाहिए। इसे ही समानजातीय अनेक द्रव्यपर्याय भी कह सकते हैं।

वास्तविकरूप से विचार किया जाय तो प्रत्येक द्रव्य की पर्याय एक समयवर्ती ही होती है। पर्याय को दो आदि समयवर्ती कहना उपचार है।

इसलिए इस कृति में जहाँ-जहाँ मिथ्यादर्शन, सम्यग्दर्शन, मोक्षमार्ग, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र आदि पर्यायों का प्रयोग किया जायेगा, उसे मात्र एक समयवर्ती पर्याय नहीं समझना।

सादृश्य प्रवाहक्रम के कारण कम से कम एक अन्तर्मुहूर्त काल की पर्याय का तो स्वीकार करना आवश्यक है ही।

मोक्ष अर्थात् सिद्ध पर्याय को भी सादि-अनंत समझना आवश्यक है।

(19)

१. सूत्र-५८, अनादिनित्यपर्यायार्थिको यथा पुद्गलपर्यायो नित्यो मेवादिः।

१६. प्रश्न हूँ आपने कम से कम एक अन्तर्मुहूर्त काल और अधिक से अधिक अनादि अनन्त, अनादिसांत तथा सादि-अनन्त काल की पर्याय कही, उसमें एक समयवर्ती पर्याय गर्भित है या नहीं ?

उत्तर हूँ एक समयवर्ती पर्याय भी अवश्य गर्भित है। पर्याय एक समयवर्ती ही होती है, यह निश्चय कथन है और अन्य दो, तीन, चार समयवर्ती को अथवा अंतर्मुहूर्त कालवर्ती आदि काल पर्यंत स्थायी अवस्था को पर्याय कहना/मानना हूँ यह सब व्यवहार कथन है। तथापि पर्याय मात्र एक समयवर्ती और सादि-सान्त ही होती है हूँ ऐसा कथन हमें यहाँ विवक्षित नहीं है।

पर्याय के स्वरूप के सम्बन्ध में आध्यात्मिकसत्पुरुष श्रीकानजी स्वामी के विचार द्रष्टव्य है हूँ

“श्रद्धा गुण की निर्मल पर्याय सम्यग्दर्शन है, यह व्याख्या (परिभाषा) गुण और पर्याय के स्वरूप का भेद समझने के लिये है।

गुण त्रैकालिक शक्तिरूप होता है और पर्याय प्रति समय व्यक्तिरूप होती है। गुण से कार्य नहीं होता, किन्तु उसकी पर्याय से कार्य होता है।

पर्याय प्रति समय बदलती रहती है, इसलिये प्रति समय नई पर्याय का उत्पाद और पुरानी पर्याय का व्यय होता ही रहता है।

जब श्रद्धा गुण की क्षायिक पर्याय (क्षायिक सम्यग्दर्शन) प्रगट होती है, तबसे अनन्तकाल तक वह वैसी की वैसी ही रहती है। तथापि प्रति समय नई पर्याय की उत्पत्ति और पुरानी पर्याय का व्यय होता ही रहता है। इसप्रकार सम्यग्दर्शन श्रद्धा गुण की एक समय मात्र की निर्मल पर्याय है।”^१

आगे श्री स्वामीजी ही कहते हैं हूँ

“अन्वय के व्यतिरेक को पर्याय कहते हैं” हूँ इसमें पर्याय की परिभाषा बताई है। द्रव्य के जो भेद हैं, सो पर्याय हैं। द्रव्य तो त्रिकाल

है। उस द्रव्य को क्षण-क्षण के परिणामन के भेद से (क्षणवर्ती अवस्था से) लक्ष में लेना, सो पर्याय है। पर्याय का स्वभाव व्यतिरेकरूप है अर्थात् एक पर्याय के समय दूसरी पर्याय नहीं होती। गुण और द्रव्य सदा एकसाथ होते हैं; किन्तु पर्याय एक के बाद दूसरी होती है।

जब अरिहन्त भगवान की केवलज्ञानरूप पर्याय होती है, तब उसके पूर्व की अपूर्ण ज्ञानदशा नहीं होती। वस्तु के जो एक-एक समय के भिन्न-भिन्न भेद हैं, सो पर्याय है। कोई भी वस्तु पर्याय के बिना नहीं हो सकती।

आत्मद्रव्य स्थिर रहता है और उसकी पर्याय बदलती रहती है। द्रव्य और गुण एकरूप हैं, उनमें भेद नहीं है; किन्तु पर्याय में अनेक प्रकार से परिवर्तन होता है, इसलिये पर्याय में भेद हैं। पहले द्रव्य-गुण पर्याय का स्वरूप अर्थात् लक्षण भिन्न-भिन्न बताकर फिर तीनों को अभेद द्रव्य में समाविष्ट कर दिया है।”^१

पर्यायरूप विषय को वीतरागता की मुख्यता से स्पष्ट करते हुए श्री स्वामीजी के भाव सम्यग्दर्शन पुस्तक पृष्ठ ८३ पर दृष्टव्य है।

“द्रव्य-गुण त्रैकालिक हैं, उसके प्रतिक्षणवर्ती जो भेद हैं सो पर्याय है। पर्याय की मर्यादा एक समय मात्र की है। इसलिये दो पर्यायें कभी एकत्रित नहीं होती।

पर्यायें एक दूसरे में अप्रवृत्त हैं। एक पर्याय दूसरी पर्याय में नहीं जाती; इसलिये पहली पर्याय के विकाररूप होने पर भी मैं अपने स्वभाव के आश्रय से दूसरी पर्याय को निर्विकार कर सकता हूँ।

इसका अर्थ यह है कि विकार एक समय मात्र के लिये है और विकार रहित स्वभाव त्रिकाल है। पर्याय एक समय मात्र के लिए ही होती है, यह जान लेने पर यह प्रतीति हो जाती है कि विकार क्षणिक है।

पर्याय एक समय की मर्यादा वाली है। एक (पहली) पर्याय का दूसरे समय में नाश हो जाता है, इसलिये एक अवस्था में से दूसरी

अवस्था नहीं आती; किन्तु द्रव्य में से ही पर्याय आती है, इसलिये पहिले द्रव्य का स्वरूप बताया है। पर्याय में जो विकार है, सो स्वरूप नहीं है; किन्तु गुण जैसी ही निर्विकार अवस्था होनी चाहिये। इसलिये बाद में गुण का स्वरूप बताया है। राग अथवा विकल्प में से पर्याय प्रगट नहीं होती; क्योंकि पर्याय एक दूसरे में प्रवृत्त नहीं होती।

१७. प्रश्न ह्य पर्याय को चिद्विवर्तन की ग्रन्थी क्यों कहा है?

उत्तर ह्य पर्याय स्वयं तो एक समय मात्र के लिये है; परन्तु एक समय की पर्याय में त्रैकालिक द्रव्य को जानने की शक्ति है। एक ही समय की पर्याय में त्रैकालिक द्रव्य का निर्णय समाविष्ट हो जाता है। पर्याय की ऐसी शक्ति बताने के लिए उसे चिद्विवर्तन की ग्रन्थी कहा है।”^१

कुछ पर्यायों निर्मलता/शुद्धता की अपेक्षा नियम से पूर्ण ही होती हैं और कुछ पर्यायों साधक अवस्था में नियम से अपूर्ण ही होती हैं; इस विषय को भी यहाँ अवश्य समझना चाहिये।

जैसे ह्य केवलज्ञानरूप सम्यग्ज्ञान की पर्याय नियम से पूर्ण ही होती हैं ह्य ऐसा कभी नहीं होता कि केवलज्ञान आधा-अधूरा होता हो।

तथा मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ह्य ये चारों क्षायोपशमिक ज्ञान कभी पूर्ण नहीं होते। ज्ञान की ये चारों पर्यायें हमेशा अपूर्ण ही होती हैं।

कर्म के क्षयोपशम के निमित्त से जो ज्ञान तथा चारित्र की पर्यायें होती हैं, वे सब आंशिक शुद्धता की अपेक्षा अपूर्ण ही रहती हैं, ऐसा नियम समझना चाहिए।

श्रद्धागुण की औपशमिक सम्यक्त्वरूप पर्याय एवं क्षायिक सम्यक्त्वरूप पर्याय ह्य दोनों परिपूर्ण एवं सर्वथा निर्मल ही होती हैं।

इसी क्रम में क्षायोपशमिक सम्यक्त्व को सदोष तो माना गया है; लेकिन सम्यक्त्व/प्रतीति अधूरी नहीं है।

यद्यपि सम्यक्त्व में चल, मल, अगाढ़ दोष तो हैं; तथापि सम्यक्त्वरूप यथार्थ आत्मश्रद्धान में अधूरापन नहीं है।

इस विषय के यथार्थ ज्ञान हेतु शास्त्राधाररूप में धवला पुस्तक पहला/ एक पृष्ठ ३९७ से ४०० पर्यंत के हिन्दी अनुवाद का अंश नीचे दे रहे हैं ह्य

“अब सम्यक्त्वमार्गणा के अनुवाद से जीवों के अस्तित्व के प्रतिपादन करने के लिये सूत्र कहते हैं ह्य

सम्यक्त्वमार्गणा के अनुवाद से सम्यग्दृष्टि-क्षायिकसम्यग्दृष्टि, वेदकसम्यग्दृष्टि, उपशमसम्यग्दृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि और मिथ्यादृष्टि जीव होते हैं।

जिसप्रकार आम्रवन के भीतर रहनेवाले नीम के वृक्षों को आम्रवन यह संज्ञा प्राप्त हो जाती है, उसीप्रकार मिथ्यात्व आदि को सम्यक्त्व यह संज्ञा देना उचित ही है। शेष कथन सुगम है। कहा भी है ह्य

जिनेन्द्रदेव द्वारा उपदिष्ट छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय और नव पदार्थों का आज्ञा अथवा अधिगम से श्रद्धान करने को सम्यक्त्व कहते हैं॥२१२॥

दर्शनमोहनीय कर्म के सर्वथा क्षय हो जाने पर जो निर्मल श्रद्धान होता है, वह क्षायिक सम्यक्त्व है; जो नित्य है और कर्मों के क्षयण का कारण है।

श्रद्धान को भ्रष्ट करनेवाले वचन या हेतुओं से अथवा इन्द्रियों को भय उत्पन्न करनेवाले आकारों से या वीभत्स अर्थात् निन्दित पदार्थों के देखने से उत्पन्न हुई ग्लानि से, किंबहुना तीन लोक से भी वह क्षायिक सम्यग्दर्शन चलायमान नहीं होता है॥२१४॥

सम्यक्त्वमोहनीय प्रकृति के उदय से पदार्थों का जो चल, मलिन और अगाढ़रूप श्रद्धान होता है, उसको वेदक सम्यग्दर्शन कहते हैं ह्य ऐसा हे शिष्य ! तू समझ।

दर्शनमोहनीय के उपशम से कीचड़ के नीचे बैठ जाने से निर्मल जल के समान पदार्थों का, जो निर्मल श्रद्धान होता है वह उपशम-सम्यग्दर्शन है॥२१६॥

अब सामान्य सम्यग्दर्शन और क्षायिक सम्यग्दर्शन के गुणस्थानों के निरूपण करने के लिये सूत्र कहते हैं ह

सामान्य से सम्यग्दृष्टि और विशेष की अपेक्षा क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान से लेकर अयोगिकेवली गुणस्थान तक होते हैं ॥१४५॥

१८. (1) शंका : सम्यक्त्व में रहनेवाली वह सामान्य वस्तु क्या है ?

समाधान ह्म तीनों ही सम्यग्दर्शनों में जो साधारण धर्म है, वह सामान्य शब्द से यहाँ पर विवक्षित है।

१९. (2) शंका : क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक सम्यग्दर्शनों के परस्पर भिन्न-भिन्न होने पर सदृशता क्या वस्तु हो सकती है?

समाधान : नहीं; क्योंकि उन तीनों सम्यग्दर्शन में यथार्थ श्रद्धान के प्रति समानता पाई जाती है।

२०. (3) शंका : क्षय, क्षयोपशम और उपशम विशेषण से युक्त यथार्थ श्रद्धानों में समानता कैसे हो सकती है?

समाधान : विशेषणों में भेद भले ही रहा आवे, परन्तु इससे यथार्थ श्रद्धारूप विशेष्य में भेद नहीं पड़ता है।

शेष सूत्र का अर्थ सुगम है।

अब वेदकसम्यग्दर्शन के गुणस्थानों की संख्या के प्रतिपादन करने के लिये सूत्र कहते हैं ह

वेदकसम्यग्दृष्टि जीव असंयतसम्यग्दृष्टि से लेकर अप्रमत्तसंयत गुणस्थान तक होते हैं ॥१४६॥

२१. (4) शंका : ऊपर के आठवें आदि गुणस्थानों में वेदकसम्यग्दर्शन क्यों नहीं होता है?

समाधान ह्म नहीं होता; क्योंकि, अवगाढ़ आदि मलसहित श्रद्धान के साथ क्षपक और उपशम श्रेणी परचढ़ना नहीं बनता है।

२२. (5) शंका : वेदकसम्यग्दर्शन से औपशमिक सम्यग्दर्शन की अधिकता अर्थात् विशेषता कैसे संभव है?

समाधान : नहीं; क्योंकि, दर्शनमोहनीय के उदय से उत्पन्न हुई शिथिलता आदि औपशमिक सम्यग्दर्शन में नहीं पाई जाती है, इसलिये वेदकसम्यग्दर्शन से औपशमिक सम्यग्दर्शन में विशेषता सिद्ध हो जाती है।

२३. (6) शंका : क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन को वेदक सम्यग्दर्शन यह संज्ञा कैसे प्राप्त होती है?

समाधान ह्म दर्शनमोहनीय कर्म (सम्यक् प्रकृति) के उदय का वेदन करनेवाले जीव को वेदक कहते हैं। उसके जो सम्यग्दर्शन होता है उसे वेदकसम्यग्दर्शन कहते हैं।

२४. (7) शंका : जिनके दर्शनमोहनीय कर्म का उदय विद्यमान है उनके सम्यग्दर्शन कैसे पाया जा सकता है?

समाधान : नहीं; क्योंकि, दर्शनमोहनीय की देशघाति प्रकृति के उदय रहने पर भी जीव के स्वभावरूप श्रद्धान की एकदेश की उत्पत्ति होने में कोई विरोध नहीं आता है।

२५. (8) शंका : दर्शनमोहनीय की देशघाति प्रकृति को सम्यग्दर्शन यह संज्ञा कैसे दी गई?

समाधान : नहीं; क्योंकि, सम्यग्दर्शन के साथ सहचर संबंध होने के कारण उसको सम्यग्दर्शन संज्ञा के देने में कोई विरोध नहीं आता है।

अब औपशमिक सम्यग्दर्शन के गुणस्थानों के प्रतिपादन करने के लिये सूत्र कहते हैं ह

उपशमसम्यग्दृष्टि जीव असंयतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान से लेकर उपशान्त-कषाय-वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान तक होते हैं ॥१४७॥^१

इसी विषय को और भी अधिक स्पष्ट समझने-समझाने का प्रयास करते हैं ह

२६. प्रश्न : औपशमिक सम्यक्त्व तो मात्र अन्तर्मुहूर्त काल रहकर नियम से छूट ही जाता है तो उस औपशमिक सम्यक्त्व को अपूर्ण ही

कहना चाहिए। आप उसे भी पूर्ण कहते हो, यह समझ में नहीं आता, इसलिए कृपया इसे स्पष्ट करें?

उत्तर : आपको शंका होना स्वाभाविक है। समाधान के लिए हमें आगम ही शरण/आधार है और युक्ति का अवलंबन भी आवश्यक है।

औपशमिक सम्यक्त्व एक अंतर्मुहूर्त ही रहता है, इसलिए वह अपूर्ण नहीं है। यहाँ काल की कुछ अपेक्षा नहीं है। सम्यक्त्व को यहाँ भाव की अपेक्षा से ही पूर्ण कहा है।

श्रद्धा गुण का जो सम्यक्त्वरूप (सम्यग्दर्शन) परिणमन होता है (भले वह औपशमिकादि तीनों में से कोई भी हो) उसके निमित्त से कर्मों की ४१ प्रकृतियों की बंधव्युच्छिति (नये कर्मों के बन्ध का अभाव) होती है, वह तीनों सम्यक्त्व में समानरूप से ही होती है। इस कारण से भी तीनों सम्यक्त्व में समानता रहती है।

(२) तत्त्वार्थों की यथार्थ स्वीकृति, सच्ची प्रतीति, सत्य अभिप्राय, सत्य का विश्वास, तत्त्वों की रुचि को ही सम्यक्त्व कहते हैं। यह कार्य तीनों सम्यक्त्व में बराबर रहता है। अतः औपशमिक सम्यक्त्व भी पूर्ण ही है।

(३) औपशमिक सम्यग्दर्शन का धारक जीव संयमासंयमी होता है, संयमी भी बन जाता है, इतना ही नहीं द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि मुनिराज को ग्याहरवें गुणस्थान की प्राप्ति भी होती है। उसे शुद्धोपयोग तो होता ही है।

(४) द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि मुनिराज को श्रेणी के गुणस्थानों में नियम से शुक्लध्यान तो होता ही है।

उपर्युक्त कारणों से औपशमिक सम्यक्त्व पूर्ण ही है, अपूर्ण नहीं।

आत्मा में अनंत गुण हैं। उनमें प्रत्येक गुण का कार्य/स्वरूप/लक्षण नियम से भिन्न-भिन्न ही रहता है।

ज्ञान गुण के द्वारा निर्णीत वस्तु का विश्वास/प्रतीति करना, श्रद्धान करना, भरोसा करना श्रद्धा का कार्यक्षेत्र है।

श्रद्धागुण का काम वस्तु-स्वरूप का निर्णय करना, निश्चय करना, हेय-उपादेय का विचार करना आदि नहीं है ह्व यह कार्य तो मात्र ज्ञान का है।

ज्ञान, जिस वस्तु को कल्याणदायक, सुखदाता, आत्म हितकारक-रूप से निर्णय करता है; उसको मात्र स्वीकारना, श्रद्धा गुण का कार्य है; अन्य कुछ काम नहीं।

श्रद्धा गुण जिसे निजरूप से श्रद्धेय मानेगा उस पर ही श्रद्धा करेगा। अर्थात् जिसे श्रद्धा निज मानेगी उसकी ही श्रद्धा करेगी, अन्य की नहीं। एक काल में एक अपने को ही निज माना जा सकता अनेकों को नहीं।

२७. प्रश्न ह्व मोक्षमार्गप्रकाशक में तो आप जो कह रहे हो, उससे अलग अर्थात् विरुद्ध कथन आया है। हम मोक्षमार्गप्रकाशक का वह विशिष्ट अंश ही आगे दे रहे हैं, जो ७वें अध्याय में ३२० पृष्ठ पर आया है “इसलिए सातों तत्त्वों का श्रद्धान होने पर ही रागादिक छोड़कर शुद्धभाव होने की इच्छा उत्पन्न होती है। यदि इनमें एक भी तत्त्व का श्रद्धान न हो तो ऐसी चाह उत्पन्न नहीं होती। तथा ऐसी चाह तुच्छज्ञानी तिर्यचादि सम्यग्दृष्टि के होती ही है। इसलिए उसके सात तत्त्वों का श्रद्धान पाया जाता है, ऐसा निश्चय करना।”

इतना ही नहीं ऐसा ही भाव आचार्य अमृतचन्द्र कृत तत्त्वार्थसार ग्रन्थ में भी प्रत्येक अध्याय के अंत में आया है। अतः हमें शंका उत्पन्न हुई है। कृपया खुलासा कीजिए।

उत्तर ह्व मोक्षमार्गप्रकाशक एवं तत्त्वार्थसार ग्रन्थ का कथन अपेक्षाकृत सत्य है।

२८. प्रश्न ह्व परस्पर विरोधी दोनों कथनों की विवक्षा क्या है?

उत्तर ह्व मोक्षमार्गप्रकाशक एवं तत्त्वार्थसार में ज्ञान की मुख्यता से श्रद्धा का कथन किया है, इस अपेक्षा से वह सत्य है।

हम जो कथन कह रहे हैं, यह ज्ञान गुण की मुख्यता से कथन नहीं है ह्व सीधा श्रद्धा गुण की मुख्यता से है।

वास्तविकरूप से सोचा जाये तो मिथ्यात्वरूप परिणाम के लिए श्रद्धेयरूप वस्तु भी ज्ञान द्वारा ही दी जाती है। (व्यवहार से) अनादि से ज्ञान ही मिथ्यात्व का पोषक एवं शोषक है।

मिथ्यात्व अवस्था में भी जीव को मिथ्या श्रद्धेय विषय भी तो एक ही

रहता है। श्रद्धा का विषय तो हमेशा सामान्य ही रहता है। अज्ञानी अपने अज्ञान से अपने श्रद्धेय विषय को बार-बार बदलता रहता है; तथापि जब भी जिस किसी भी वस्तु का श्रद्धान करता है तब विषय संख्या में केवल एक रहेगा, यह निश्चित है। एक काल में अनेक वस्तुओं का श्रद्धान करना बनता ही नहीं। सम्यक्श्रद्धा का श्रद्धेय निज आत्मा रहता है।

श्रद्धा का विषय एक ही होता है। श्रद्धेय स्व होता है या पर होता है। श्रद्धा स्व की होती या नहीं होती। इसलिए एक, निज एवं त्रिकाली शुद्ध आत्मा की श्रद्धा हो तो सम्यक्त्व है और निज आत्मा की श्रद्धा न हो ह अन्य की श्रद्धा हो तो मिथ्यात्व है।

ऐसे निज आत्मा की श्रद्धा मात्र हाँ अथवा ना में होती है। इसकारण श्रद्धा उत्पत्ति के समय में परिपूर्ण होती है, उसमें अपूर्णता का क्या काम? श्रद्धा में अपूर्णता का प्रवेश ही नहीं है।

ज्ञान गुण का कार्य/स्वरूप ही अलग है ह ज्ञान जानेगा तो हमेशा अनेकों को जानेगा। ज्ञान का ज्ञेय एक विषय/पदार्थ बने, ऐसा कभी नहीं हो सकता। ज्ञान जानेगा तो अनेकों को जानेगा। हिताहित का विचार करेगा, निर्णय करेगा ह जानता ही रहेगा।

जानने में ज्ञान को अर्थात् जीव को कभी भी भार/थकान नहीं आती। थकान तो कषाय के कार्यों से होती है। ज्ञान तो जीव का अनुजीवी गुण है और जीव का मात्र जानना स्वाभाविक कार्य है ह स्वभाव है। स्वभाव में थकान कैसी ?

थकान तो विभाव में होना स्वाभाविक है। जिससे थकावट आती है, कष्ट का अनुभव होता है वह कभी स्वभाव नहीं हो सकता।

जीव निरन्तर जानने का काम तो कर सकता है; तथापि एक ही कषाय-नोकषायरूप परिणमन को सतत करते रहना किसी भी जीव द्वारा असंभव है।

कषाय-नोकषायरूप से परिणत होते रहना, यह अपराध तो अज्ञानी अनादि से ही करता आ रहा है; तथापि किसी भी एक कषाय-नोकषायरूप विकारी भाव को जीव अन्तर्मुहूर्त काल से अधिक काल पर्यंत कर ही नहीं सकता।

- सुख-दुःखरूप कल्पना करना भी राग मिश्रित ज्ञान का कार्य है।
- श्रद्धेय वस्तु में मग्न होना, लीन हो जाना ह यह चारित्र का कार्य है।
- श्रद्धा की सम्यक्त्वरूप पर्याय को किसी भी विशेषण से कहा जाये तो भी सम्यग्दर्शन अपनी उत्पत्ति के समय से ही अपने ही स्वभाव से वह पूर्ण ही रहता है।

सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र की पर्यायों के समान सम्यक्त्व कभी हीन अथवा अधिक होता ही नहीं, वह हमेशा पूर्ण ही रहता है; यह स्वीकारना यथार्थ है।

२९. प्रश्न : क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में चल, मल, अगाढ़ दोष भी लगते हैं। अतः ऐसी स्थिति में क्षायोपशमिक सम्यक्त्व तो नियम से अपूर्ण ही होना चाहिए तथापि आप उसे भी पूर्ण ही कहते हो, यह कैसे ?

उत्तर : चल, मल, अगाढ़ ये तीनों दोष तो सम्यक्प्रकृति दर्शनमोहनीय कर्म के निमित्त से उत्पन्न होने की बात शास्त्र में आयी है, जो सत्य ही है।

हम सूक्ष्मता से विचार करते हैं तो क्षायोपशमिक सम्यक्त्व के दोष तो तारतम्यस्वरूप से मात्र केवलीगम्य हैं। विचार करने पर यह विषय स्पष्ट हो जाता है कि ये तीनों दोष ज्ञान तथा चारित्र के व्यक्त परिणामरूप हैं।

ज्ञान तथा चारित्र के व्यक्त दोषों को उपचार से श्रद्धा के दोष कहे गये हैं। इसलिए इन दोषों से क्षायोपशमिक सम्यक्त्वरूप धर्म दूषित तथा प्रभावित नहीं होता। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में केवलज्ञानगम्य समलता तो होती है; परन्तु उससे अंशमात्र भी आस्रव-बंध नहीं होते। इस समलक्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन से यथायोग्य संवर-निर्जरा होते ही रहते हैं।

चलादि दोषों से यदि सम्यक्त्व दूषित हो जाता तो क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी जीव को निर्जरा होने का कथन शास्त्र में नहीं आता। शास्त्र में क्षायोपशमिक सम्यक्त्व को कर्म-निर्जरा का कारण कहा है। देशविरत नामक पंचम गुणस्थान की तथा छठवें-सातवें गुणस्थानरूप भावलिंग स्वरूप मुनि-जीवन की प्राप्ति भी क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी करता है।

इसका अर्थ यह है कि क्षायोपशमिक सम्यक्त्व भी औपशमिक तथा क्षायिक सम्यक्त्व के समान यथार्थ प्रतीति/श्रद्धान करने में पूर्ण समर्थ है।

अतः यह सम्यक्त्व उत्पत्ति के समय से ही पूर्णरूप से ही प्रगट रहता है। क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि जीव यथायोग्य काल का अंतराल व्यतीत होने के बाद शुद्धोपयोगरूप महान पुरुषार्थ भी करते हैं। यदि ये जीव शुद्धोपयोग नहीं करते तो उन्हें पाँचवाँ या सातवाँ गुणस्थान कैसे होता ? इन कारणों से मात्र चलादि दोषों के कारण क्षायोपशमिक सम्यक्त्व को अपूर्ण मानना उचित नहीं है, शास्त्रसम्मत भी नहीं है। इस विषय को शास्त्राधार से समझने के लिए मोक्षमार्ग-प्रकाशक के पृष्ठ ३३४-३३५ का अंश उपयोगी है ह

“तथा जहाँ दर्शनमोह की तीन प्रकृतियों में सम्यक्त्वमोहनीय का उदय हो, अन्य दो का उदय न हो, वहाँ क्षयोपशमसम्यक्त्व होता है। उपशम-सम्यक्त्व का काल पूर्ण होने पर यह सम्यक्त्व होता है व सादिमिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्वगुणस्थान से व मिश्रगुणस्थान से भी इसकी प्राप्ति होती है। क्षयोपशम क्या है? सो कहते हैं ह दर्शनमोह की तीन प्रकृतियों में जो मिथ्यात्व का अनुभाग है, उसके अनन्तर्वे भाग मिश्रमोहनीय का है, उसके अनन्तर्वे भाग सम्यक्त्वमोहनीय का है। इनमें सम्यक्त्वमोहनीय प्रकृति देशघाती है; इसका उदय होने पर भी सम्यक्त्व का घात नहीं होता। किंचित् मलिनता करे, मूलघात न कर सके, उसी का नाम देशघाती है। सो जहाँ मिथ्यात्व व मिश्रमिथ्यात्व के वर्तमान काल में उदय आने योग्य निषेकों का उदय हुए बिना ही निर्जरा होती है वह तो क्षय जानना और इन्हीं के आगामीकाल में उदय आने योग्य निषेकों की सत्ता पायी जाये वही उपशम है और सम्यक्त्वमोहनीय का उदय पाया जाता है, ऐसी दशा जहाँ हो, सो क्षयोपशम है; इसलिए समल तत्त्वार्थश्रद्धान हो, वह क्षयोपशमसम्यक्त्व है। यहाँ जो मल लगता है, उसको तारतम्यस्वरूप तो केवली जानते हैं; उदाहरण बतलाने के अर्थ चल, मलिन, अगाढ़पना कहा है। वहाँ व्यवहारमात्र देवादिक की प्रतीति तो हो, परन्तु अरहन्तदेव में ह यह मेरा है, यह अन्य का है, इत्यादि भाव सो चलपना है।

(25)

शंकादि मल लगे तो मलिनपना है।

यह शान्तिनाथ शांतिकर्ता हैं, इत्यादि भाव, सो अगाढ़पना है। ऐसे उदाहरण व्यवहारमात्र बतलाये; परन्तु नियमरूप नहीं हैं।

क्षयोपशम सम्यक्त्व में जो नियमरूप कोई मल लगता है, सो केवली जानते हैं। इतना जानना कि इसके तत्त्वार्थ श्रद्धान में किसी प्रकार से समलपना होता है, इसलिए यह सम्यक्त्व निर्मल नहीं है। इस क्षयोपशमसम्यक्त्व का एक ही प्रकार है, इसमें कुछ भेद नहीं है।

इतना विशेष है कि क्षायिकसम्यक्त्व के सन्मुख होने पर अन्तर्मुहूर्त काल मात्र जहाँ मिथ्यात्व की प्रकृति का क्षय करता है, वहाँ दो ही प्रकृतियों की सत्ता रहती है। पश्चात् मिश्रमोहनीय का भी क्षय करता है, वहाँ सम्यक्त्वमोहनीय की ही सत्ता रहती है। पश्चात् सम्यक्त्वमोहनीय की काण्डकघातादि क्रिया नहीं करता, वहाँ कृतकृत्यवेदकसम्यग्दृष्टि नाम पाता है ह ऐसा जानना।

तथा इस क्षयोपशमसम्यक्त्व ही का नाम वेदकसम्यक्त्व है।

जहाँ मिथ्यात्व-मिश्रमोहनीय की मुख्यता से कहा जाये, वहाँ क्षयोपशम नाम पाता है।

सम्यक्त्वमोहनीय की मुख्यता से कहा जाये, वहाँ वेदक नाम पाता है। सो कथनमात्र दो नाम हैं, स्वरूप में भेद नहीं है। तथा वह क्षयोपशम-सम्यक्त्व चतुर्थादि सप्तमगुणस्थान पर्यन्त पाया जाता है।

इसप्रकार क्षयोपशमसम्यक्त्व का स्वरूप कहा।”^१

जैसे महासागर के विशाल/विपुल जल-समूह में विष का एक बिन्दु गिर जाये तो विष के बाधकपने का असर कुछ कार्यकारी नहीं होता; वैसे सम्यक्त्वप्रकृति के निमित्त से उत्पन्न मलादि दोष सम्यक्त्वरूपी समुद्र में कुछ कार्यकारी नहीं होते।

शास्त्र में जो विषय जैसा कहा गया है, उसे वैसा ही मानना चाहिए। हम सब जगह तर्क-वितर्क नहीं कर सकते, इसी दृष्टि से जिनागम में करणानुयोग को ‘अहेतुवाद’ आगम भी कहा है।

१. मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ ३३४, ३३५

वस्तुतः चारों अनुयोगों में मात्र द्रव्यानुयोग में ही हम तर्क के आधार से निर्णय करने का प्रयास कर सकते हैं। शेष तीनों अनुयोगों के कथन को आज्ञा-प्रमाण से ही मानना आवश्यक होता है, अन्य कोई उपाय नहीं है।

जीव के श्रद्धा गुण का मिथ्यात्वरूप परिणमन अनादिकाल से ही चल रहा है। यह मिथ्यादृष्टि जीव जब जिनवाणी को पढ़कर या आत्मज्ञानी साधक की देशना सुनकर वस्तुस्वरूप समझता है। तब उस काल में जिनवाणी के अध्ययन से मिथ्यादृष्टि को सम्पूर्ण सत्यस्वरूप समझ (सविकल्प ज्ञान) में आता है और विशुद्धता बढ़ती है, जिसका निमित्त पाकर पहले मिथ्यात्व परिणाम में मन्दता आती है।

मन्दता आते-आते मिथ्यात्व कर्म उत्तरोत्तर शिथिल होता है, उसकी स्थिति कम होती जाती है, अनुभाग भी हीन-हीन होता जाता है और उसके उपशम होने के काल में शुद्धात्मा के ध्यान/आश्रय से श्रद्धा गुण की पर्याय स्वयमेव सम्यक्त्वरूप परिणमन करती है।

उसीसमय ज्ञान गुण के परिणमन में स्वानुभूति आवरण कर्म के क्षयोपशम होते ही अपने-आप ज्ञान में सम्यक्पना आ जाता है एवं जो चारित्र गुण पहले मिथ्याचारित्ररूप परिणमन कर रहा था, वह अनन्तानुबंधी के अप्रशस्त उपशम के काल में आंशिक सम्यक्चारित्ररूप परिणमित हो जाता है।

श्रद्धा आदि तीन प्रमुख गुणों के परिणमन के संबंध में कुछ विशिष्ट विषय हम आगे दे रहे हैं ह

१. श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र हूँ इन तीनों गुणों के सम्यक् परिणमन में सर्वप्रथम श्रद्धा गुण के परिणमन में पूर्णता होती है।
२. चारित्रगुण की पूर्णता (भाव चारित्र) बारहवें गुणस्थान में होती है।
३. ज्ञानगुण के परिणमन की (केवलज्ञानरूप) पूर्णता तेरहवें गुणस्थान में होती है।
४. सिद्धावस्था में द्रव्यचारित्र की पूर्णता होती है।

५. श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र गुण का सम्यक्परिणमनरूप कार्य एकसाथ ही प्रगट होता है।
 ६. ऐसा नहीं है कि श्रद्धा गुण का परिणमन तो सम्यक् रूप हो गया और ज्ञान एवं चारित्र गुण के परिणमन में सम्यक्पना आया ही नहीं। अथवा कुछ काल व्यतीत होने पर ज्ञान और चारित्र गुण के परिणमन में सम्यक्पना आता है, ऐसा नहीं है।
 ७. श्रद्धादि तीनों गुणों के परिणमन में सम्यक्पना (युगपत्) एकसाथ अर्थात् एक समय में ही आता है।
 ८. जब-जब श्रद्धा में सम्यक्पना आता है, तब-तब श्रद्धा का श्रद्धेय विषय में समर्पण व प्रतीति में सम्यक्पना पूर्ण ही होता है, अधूरा नहीं होता।
 ९. श्रद्धा के सम्यक् परिणमन को कर्म के निमित्त से औपशमिक, क्षायोपशमिक या क्षायिक नाम प्राप्त हो तो भी सम्यक्पने में कुछ भी अन्तर नहीं होता है।
 १०. जब किसी भी जीव का किसी भी गति में श्रद्धा गुण का सम्यक् रूप परिणमन होता है, तब वह पूर्ण ही होता है।
 ११. श्रद्धा गुण में सम्यक्पना आते ही जीवद्रव्य के सर्व अनुजीवी गुणों में सम्यक्पना आने का नियम है।
 १२. आगम में “सर्व गुणांश ते सम्यक्त्व” ऐसा ज्ञानियों का वचन प्रचलित एवं प्रसिद्ध भी है।
 १३. श्रद्धा के सम्यक्पने की उत्पत्ति और उसकी पूर्णता भी एकसाथ ही होती है।
- औपशमिकादि तीनों सम्यक्त्व के संबंध में आध्यात्मिक सत्पुरुष श्रीकानजी स्वामी के अति महत्त्वपूर्ण विचार हम आगे दे रहे हैं ह
- “जैसी शुद्धात्मा की प्रतीति सिद्ध भगवान के सम्यक्त्व में है, चौथे गुणस्थानवाले सम्यग्दृष्टि को भी वैसी ही शुद्धात्मा की प्रतीति है; उसमें कुछ भी फर्क नहीं।
 - सिद्ध भगवान का सम्यक्त्व प्रत्यक्ष व चौथे गुणस्थानवाले का सम्यक्त्व परोक्ष हूँ ऐसा भेद नहीं है।

- स्वानुभव के समय सम्यक्त्व प्रत्यक्ष और बाहर में शुभाशुभ उपयोग के समय सम्यक्त्व परोक्ष हूँ ऐसा भी नहीं है।
- चाहे शुभाशुभ में प्रवर्तता हो या स्वानुभव के द्वारा शुद्धोपयोग में प्रवर्तता हो, सम्यग्दृष्टि का सम्यक्त्व तो सामान्य वैसा का वैसा है; अर्थात् शुभाशुभ के समय सम्यक्त्व में कोई मलिनता आ गई और स्वानुभव के समय सम्यक्त्व में कोई निर्मलता बढ़ गई हूँ ऐसा नहीं है।^१

स्वानुभव के समय में सम्यग्दर्शन मुख्य और शुभाशुभ उपयोग के काल में सम्यग्दर्शन नष्ट होता है; ऐसा नहीं है। सम्यग्दर्शन प्रगट होने के बाद वह हमेशा प्रगट अर्थात् प्रतीतिरूप व्यक्त ही होता है। मुख्य-गौण की व्यवस्था श्रद्धा में नहीं है, वह ज्ञान में है।

श्री स्वामीजी ही आगे कहते हैं हूँ

“क्षायिकसम्यक्त्व तो सर्वथा निर्मल है।

औपशमिक सम्यक्त्व भी वर्तमान में तो क्षायिक जैसा निर्मल है; परन्तु उस जीव की (निखरे हुए कादववाले पानी की तरह) मूलसत्ता में से मिथ्यात्व-प्रकृति का अभी नाश नहीं हुआ।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में सम्यक्त्व को बाधा न पहुँचावे हूँ ऐसा सम्यक्-मोहनीय प्रकृति संबंधी विकार है।

इन तीनों प्रकार के सम्यक्त्वों में शुद्धात्मा की प्रतीति समान वर्तती है। प्रतीति की अपेक्षा से तो तीनों प्रकार के सम्यग्दृष्टि को सिद्धसमान कहा है।

३०. प्रश्न हूँ चौथे गुणस्थान में जो क्षायिक सम्यग्दृष्टि है, उसकी तो प्रतीति सिद्धभगवान जैसी भले हो; परन्तु चौथे गुणस्थानवर्ती उपशम व क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि जीव की भी प्रतीति क्या सिद्ध भगवान जैसी होती है?

उत्तर हूँ हाँ, उपशम/(क्षयोपशम) सम्यग्दृष्टि की प्रतीति में जो शुद्धात्मा आया है, वह भी वैसा ही है जैसा कि सिद्ध भगवान की प्रतीति में आया है।

शुद्धात्मा की प्रतीति तीनों ही प्रकार के सम्यक्त्वी जीवों की समान है, इसमें कोई अन्तर नहीं।^२

१. अध्यात्मसंदेश, पृष्ठ-७२-७३

२. अध्यात्मसंदेश, पृष्ठ-७५

श्रद्धादि तीनों गुणों के परिणामन में सम्यक्ता व शुद्धता की पूर्णता होने पर ही आत्मा परद्रव्य से सर्वथा मुक्त होकर पूर्ण विशुद्ध होता है, अतः यह सम्यग्दर्शनादि तीनों मिलकर मोक्ष के साधन-उपाय माने गये हैं।

इनमें से किसी एक भी साधन के अपूर्ण रहने पर परिपूर्ण मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती; क्योंकि साधनों की अपूर्णता ही विवक्षाभेद से साध्य की अपूर्णता है।

३१. प्रश्न हूँ सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र की पूर्णता का कथन गुणस्थान की मुख्यता से कीजिए, ताकि हमें समझने में अधिक सुलभता हो।

उत्तर हूँ आपकी जिज्ञासा के अनुसार गुणस्थान की मुख्यता से आगे कथन करते हैं हूँ

१. सम्यग्दर्शन की पूर्णता, चौथे गुणस्थान में होती है।

२. चारित्र गुण की पूर्णता (गुण चारित्र/भाव चारित्र)^१ बारहवें गुणस्थान के प्रथम समय में होती है।

३. सम्यग्ज्ञान की पूर्णता तेरहवें गुणस्थान के प्रथम समय में होती है।

४. द्रव्यचारित्र की पूर्णता सिद्धावस्था के प्रथम समय में होती है।

३२. प्रश्न हूँ हमने तो शास्त्र में पढ़ा है कि किसी-किसी को सम्यक्त्व देशविरत नामक पाँचवें गुणस्थान में उत्पन्न होता है। किसी द्रव्यलिंगी मुनिराज को सम्यक्त्व सातवें गुणस्थान में भी प्रगट होता है और आप लिख रहे हैं कि सम्यक्त्व चौथे गुणस्थान में पूर्णरूप से प्रगट होता है; हम क्या समझें?

उत्तर हूँ कुछ विशिष्ट अपेक्षा से आपका कथन यथार्थ है। उसका विशेष स्पष्टीकरण इसप्रकार है हूँ

१. ग्रंथ आत्मावलोकन के मोक्षमार्ग अधिकार का पृष्ठ ८८ का अन्तिम भाग यहाँ उपयोगी है। अतः आगे दे रहे हैं - अप्रमत्त अवस्था से चारित्रादि गुणों की शक्तियों का मोक्षरूप होने का मार्ग प्रधानता से आरंभ हुआ था, वह मार्ग यहाँ परिपूर्ण होकर उत्पन्न हुआ। वे चारित्रादि गुण मोक्षरूप निष्पन्न हुए, तब गुणमोक्ष संपूर्ण हुआ। इति गुणमोक्षमार्ग विवरण।

गुणमोक्षमार्ग चौथे गुणस्थान से प्रारंभ हुआ था, बारहवें गुणस्थान के अंत तक संपूर्ण हुआ।

१. कोई अनादि या सादि मिथ्यादृष्टि मनुष्य, द्रव्यलिंगी देशव्रती श्रावक अर्थात् सम्यक्त्व रहित मिथ्यादृष्टि मनुष्य को किसी बाह्य कारणवश वैराग्य भाव होने से शास्त्र के अनुसार अणुव्रतादि का स्वीकार हुआ हो, उसे मिथ्यात्व गुणस्थान से सीधे ही देशविरत नामक पाँचवें गुणस्थान की प्राप्ति होती है।

अर्थात् सम्यक्त्व एवं देशविरत नामक पंचम गुणस्थान की निर्मलता/वीतरागता एक समय में ही मिथ्यात्व एवं दो कषाय चौकड़ी के अभाव से होती है, तब उस जीव को सम्यक्त्व पाँचवें गुणस्थान में हुआ हूँ ऐसा समझना चाहिए। इस जीव की अपेक्षा सम्यक्त्व पंचम गुणस्थान में पूर्ण हुआ, ऐसा कथन यथार्थ है।

२. जो मनुष्य अगृहीत मिथ्यात्व नष्ट हुए बिना अर्थात् सम्यक्त्व के बिना ही वैराग्य परिणाम की तीव्रता से आगम में वर्णित मुनिराज के २८ मूलगुणों को स्वीकार कर चरणानुयोग के अनुसार निर्दोषरूप से उनका पालन करता है, वह मिथ्यादृष्टि प्रथम गुणस्थानवर्ती द्रव्यलिंगी मुनि है।

अथवा छठवें-सातवें गुणस्थानवर्ती भावलिंगी मुनिराज का अपनी पुरुषार्थ हीनता एवं मिथ्यात्व कर्म का उदय हूँ इन दोनों के निमित्त से मिथ्यात्व गुणस्थान में पतन हुआ हो तो उसे भी प्रथम गुणस्थानवर्ती द्रव्यलिंगी मुनिराज कहते हैं। (चौथे-पाँचवें गुणस्थानवर्ती भी मुनि, द्रव्य-लिंगी होते हैं)।

ये द्रव्यलिंगी मुनिराज वंदनीय एवं पूजनीय ही होते हैं। (देखो, मोक्षमार्गप्रकाशक अध्याय सातवाँ पृष्ठ २४५, २४७-२४८) उन मुनिराज को मिथ्यात्व गुणस्थान से सीधा सातवाँ अप्रमत्तविरत गुणस्थान भी प्राप्त होता है। इन्हें सम्यक्त्व की पूर्ण निर्मलता तथा अप्रमत्तविरत गुणस्थान योग्य चारित्र की प्राप्ति सातवें गुणस्थान में हो जाती है हूँ ऐसा कथन शास्त्रानुसार है।

३३. प्रश्न हूँ सम्यक्त्व के आठ मद आदि २५ दोष बताये हैं, आप

बता रहे हो सम्यक्त्व हमेशा पूर्ण ही होता, अधूरा नहीं होता - हम इस प्रकरण में क्या समझें?

उत्तर हूँ सम्यक्त्व तो हमेशा पूर्ण ही होता है, वह कभी अपूर्ण नहीं होता।

वास्तविक देखा जाय तो श्रद्धा गुण के परिणामन का स्वभाव ही ऐसा है कि वह हमेशा पूर्णरूप से ही परिणामेगा। सम्यग्दर्शन कभी आधा-अधूरा होता ही नहीं।

श्रद्धा गुण का परिणामन (मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व अथवा सम्यक्त्व) पर्यायों को छोड़कर अन्य पर्यायरूप होता ही नहीं है।

वास्तविकता से विचार किया जाय तो मद आदि दोष चारित्र गुण के विभाव परिणामरूप हैं। यहाँ यह स्पष्ट है कि चारित्र के मद आदि दोषों को सम्यक्त्व के दोष कहना, यह व्यवहार कथन है।

अर्थात् चारित्र के विभाव पर्यायों का आरोप सम्यक्त्व पर किया गया है, अतः यह आरोपित कथन है। इसलिए ये २५ दोष सम्यक्त्व के कहना मात्र व्यवहारनय का कथन है, इस अपेक्षा से ही उन्हें मानना योग्य है।

दूसरा यह भी जानना आवश्यक है कि व्यवहार सम्यक्त्व भी चारित्र गुण की विभाव पर्याय है; क्योंकि देव, शास्त्र, गुरु का श्रद्धान करना व प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य गुण प्रगट करना, यह प्रशस्त राग-रूप परिणाम है। रागरूप परिणाम चारित्रगुण की विभाव पर्याय है।

निज शुद्धात्मा की प्रतीति करना, यह श्रद्धा गुण की सम्यक्त्वरूप शुद्ध पर्याय है अर्थात् स्वभावपर्याय है और निज शुद्धात्मा का श्रद्धान न करना श्रद्धा गुण का विभाव परिणामन अर्थात् मिथ्यात्वरूप विभावपर्याय है। इसलिए मदादि २५ दोष व्यवहारनय से ही सम्यक्त्व के दोष कहे गये हैं।

सम्यग्दर्शन के निःशंकित-निःकांक्षित आदि गुणों के विपरीत शंका-कांक्षा व भय-इच्छा आदि चारित्रगुण के विभाव परिणाम हैं; यह विषय अत्यन्त स्पष्ट है।

समयसार के निर्जरा अधिकार में सम्यग्दर्शन के आठों अंगों का वर्णन मूल गाथा, संस्कृत टीका, हिन्दी अनुवाद एवं भावार्थ को देखने से भी निःशंकितादि परिणाम चारित्र गुण के पर्यायरूप ही हैं, यह विषय स्पष्ट होता है। जिज्ञासु जन इस प्रकरण को अवश्य देखें।

तीन मूढतारूप परिणाम तो ज्ञान का विपरीत परिणामन है, उसका आरोप सम्यग्दर्शनरूप पर्याय पर करके व्यवहार से सम्यक्त्व को दोषरूप बताया गया हैं। इसीतरह षट्-अनायतन को भी समझ लेना चाहिए।

३४. प्रश्न ह्व सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति और उसकी पूर्णता एकसाथ ही होती है ह्व ऐसा आप पुनः-पुनः बता रहे हैं; अतः हमें यह शंका हो रही है कि तेरहवें गुणस्थान में सम्यक्त्व को परमावगाढ सम्यक्त्व नाम प्राप्त होता है, जो कि शास्त्राधार से प्रमाण है, तब आपके विचारानुसार क्या चौथे गुणस्थान में ही परमावगाढ सम्यक्त्व होता है? कृपया स्पष्ट कीजिए।

उत्तर ह्व नहीं, चौथे गुणस्थान में परमावगाढ सम्यक्त्व नहीं होता। वस्तुतः देखा जाए तो श्रुतकेवली के सम्यक्त्व को अवगाढ सम्यक्त्व व केवलज्ञानी के सम्यक्त्व को परमावगाढ सम्यक्त्व यह नाम सहचारी ज्ञान के निमित्त से प्राप्त हुआ सापेक्ष नाम है।^१

यहाँ इस प्रकरण में मात्र श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र गुण के सीधे परिणामन की अर्थात् अन्य गुणों से निरपेक्ष पर्याय का विवेचन करने की हमारी भावना है। सहचर गुणों के पर्यायों से सापेक्ष पर्यायों की चर्चा विवक्षित नहीं है।

अनुभवप्रकाश ग्रंथ में पण्डित श्री दीपचंदजी कासलीवाल ने मिश्रधर्म नामक एक छोटासा स्वतंत्र अधिकार लिखा है, वहाँ ऐसा ही प्रश्न उपस्थित किया है, जो निम्नप्रकार है ह्व

३५. प्रश्न ह्व “यहाँ कोई प्रश्न करे कि ह्व क्षायिकसम्यग्दृष्टि को सम्यक्गुण सर्वथा पूर्ण हुआ है या नहीं? उसका समाधान कहो।

यदि ऐसा कहोगे कि सर्वथा हुआ है तो (उसे) सिद्ध कहो। काहे से? कि ह्व एक गुण सर्वथा विमल होने से सर्व (गुण) शुद्ध होते हैं। सम्यक्गुण

१. मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ-३३२

सर्व गुणों में फैला है, (इससे) सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन सर्वगुण सम्यक् हुए। (परन्तु) सर्वथा सम्यग्ज्ञान नहीं है, एकदेश सम्यग्ज्ञान है। सर्वथा सम्यग्ज्ञान हो तो सर्वथा सम्यक्गुण शुद्ध हो, इसलिए सर्वथा नहीं कहा जाता।

(तथा) यदि किंचित् सम्यक्गुण शुद्ध कहें तो सम्यक्त्वगुण का घातक जो मिथ्यात्व-अनन्तानुबन्धी कर्म था, वह तो नहीं रहा; जिस गुण का आवरण जाए वह गुण (सर्वथा) शुद्ध होता है, इसलिए (सम्यक्गुण) किंचित् (शुद्ध) भी नहीं बनता।

३६. प्रश्न ह्व तो किसप्रकार है ?

उसका समाधान किया जाता है ह्व वह आवरण तो गया तथापि सर्वगुण सर्वथा सम्यक् नहीं हुए हैं। आवरण जाने से सर्वगुण सर्वथा सम्यक् नहीं हुए इसलिए परम सम्यक् नहीं हैं। सर्वगुण साक्षात् सर्वथा शुद्ध सम्यक् हों, तब ‘परम सम्यक्’ ऐसा नाम होता है। विवक्षाप्रमाण से कथन प्रमाण है।

उस दर्शनमोहनीय की पौद्गलिक स्थिति जब नष्ट हुयी, तभी इस जीव का जो मिथ्यात्वरूप परिणाम था, वह सम्यक्त्व गुण सम्पूर्ण स्वभावरूप होकर परिणामा-प्रकट हुआ। चेतन-अचेतन की भिन्न प्रतीति से वह सम्यक्त्वगुण निजजातिस्वरूप होकर परिणामा।”^१

इस मिश्रधर्म विषय पर आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी ने भी विशेष प्रवचन किए हैं, जो ‘अनुभवप्रकाश प्रवचन’ नाम से प्रकाशित हैं। जिज्ञासु पाठक उन्हें अवश्य देखें।

क्षायिक सम्यक्त्व की पूर्णता-अपूर्णता को विषय बनाकर जो खुलासा स्वामीजी ने किया है उसका महत्वपूर्ण अंश इसप्रकार है ह्व

३७. “प्रश्न :ह्व क्षायिक सम्यग्दर्शन के काल में श्रद्धा गुण की क्षायिक पर्याय पूर्ण शुद्ध है या नहीं ? यदि वह पूर्ण शुद्ध है तो उसे सिद्ध कहना चाहिए; क्योंकि एक गुण सभी गुणों में व्यापक है, इस अपेक्षा से क्षायिक सम्यक्त्वी के मिश्रपना सिद्ध नहीं होता तथा यदि उसे किंचित् शुद्ध कहें

१. अनुभवप्रकाश, पृष्ठ-८०

तो सम्यक्त्व गुण का घातक मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबंधी कर्म उसके होना चाहिए; किन्तु क्षायिक सम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबंधी कर्म का निमित्त तो होता नहीं, अतः उसका सम्यक्गुण पूर्ण शुद्ध है या अपूर्ण ?

समाधान : ह्र इसका स्पष्टीकरण यह है कि सम्यक्गुण वहाँ पूर्ण भी है और अपूर्ण भी है ह्र यह विवक्षानुसार समझना पड़ेगा ।

क्षायिक सम्यक्त्वी के मिथ्यात्वरूप आवरण तो नहीं है; परन्तु आवरण मात्र के जाने से सभी गुण सर्वथा सम्यक् नहीं होते, इसकारण अभी परम-सम्यक्पना नहीं है । क्षायिक सम्यक्त्व होने पर अन्य गुण तो परम-सम्यक् हैं ही नहीं; किन्तु जो क्षायिक सम्यक्त्व प्रकट हुआ है, वह भी परम-सम्यक् नहीं है ।

यद्यपि क्षायिक सम्यक्त्वरूप पर्याय में अशुद्धता या अपूर्णता नहीं रही; किन्तु अन्य गुण सर्वथा शुद्ध नहीं होने से क्षायिक को भी परम-सम्यक्पना नहीं कहा जा सकता । जब सभी गुण साक्षात् सर्वथा शुद्ध/सम्यक् रूप हो जायें, तब परम सम्यक्त्व ऐसा नाम पाते हैं । इसप्रकार विवक्षा प्रमाण से कथन प्रमाण होता है ।

क्षायिक सम्यक्त्व के परमसम्यक्त्वपना नहीं होने से क्षायिक सम्यग्दर्शन में कोई मलिनता, अशुद्धता या कमी है ह्र ऐसा नहीं; बल्कि क्षायिक सम्यग्दर्शन तो अपनी योग्यतानुसार निर्मल ही है तथा कोई ऐसा माने कि आगे के गुणस्थान होने पर वह विशेष निर्मल होता हो तो ऐसा भी नहीं है; क्योंकि उसमें कोई अशुद्धता शेष ही नहीं है, जो शुद्धता बढ़े; परन्तु अन्य गुण पूर्ण शुद्ध नहीं हुए । इसीकारण वह परम सम्यक्त्व नाम नहीं पाता ह्र ऐसा कहा है ।

किसी को सम्यग्दर्शन होने के अन्तर्मुहूर्त पश्चात् ही केवलज्ञान प्रकट होता है और किसी को सम्यग्दर्शन होने के लाखों-करोड़ों वर्षों तक भी पाँचवें गुणस्थान की दशा तक नहीं आती, क्योंकि क्षायिक सम्यग्दर्शन होने मात्र से सभी गुण तत्काल शुद्ध नहीं होते । द्रव्य-क्षेत्र-

काल-भाव देखकर सम्यग्दृष्टि को शक्ति अनुसार तप-त्याग भाव होता है ह्र ऐसा वीतराग का मार्ग है ।

क्षायिक सम्यग्दर्शन में किसी प्रकार का आवरण नहीं है; अतः वह पूर्ण निर्मल है, तथापि चारित्र पूर्ण निर्मल नहीं होने से परम सम्यक्त्वपना नहीं है ।

धर्मी अपने परिणामों को देखकर प्रतिज्ञा लेता है; परन्तु हठपूर्वक प्रतिज्ञा लेना वीतराग का मार्ग नहीं है । सम्यग्दृष्टि समझता है कि मेरे परिणामों में शिथिलता है, राग है । अतः अन्तर में परिणामों की ऐसी दृढ़ता आये कि प्राण छूट जायें पर प्रतिज्ञा भंग न हो ।

श्रद्धा गुण में क्षायिक सम्यग्दर्शन होने पर कोई कमी नहीं रही, तथापि वहाँ सभी गुण पूर्ण निर्मल नहीं हुए हैं, अतः मिश्रधर्म है ।

बारहवें गुणस्थान तक यही दशा रहती है, इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वहाँ धर्म की पूर्णता नहीं है । सम्यग्दर्शन तो पूर्ण है, परन्तु अन्य गुण पूर्ण निर्मल नहीं हुए हैं; अतः यहाँ मिश्रधर्म है ।

आत्मा में उत्पन्न विभावभावों को ज्ञानी अपने कारण से होना मानता है और अज्ञानी वे विभावभाव निमित्त से होते हैं ह्र ऐसा मानकर स्वच्छन्दी होता है, इसकारण उसके मिथ्यात्व का नाश नहीं होता । विभावभाव आत्मा में अपने कारण से उत्पन्न होते हैं ह्र ऐसा मानकर कोई विभावभाव को ही अपना माने तो वह भी मिथ्यादृष्टि है ।

विभावभाव पर्याय अपने कारण से होते हैं, कर्म के कारण नहीं, परन्तु वह मेरा स्वभाव नहीं है ह्र ऐसा मानते हुए ज्ञानी उनके नाश का पुरुषार्थ करता है ।

पाण्डे राजमल्लजी कृत समयसार कलश टीका में कहा है कि ह्र “जो जीव आत्मा में रागादिभाव कर्म के कारण उत्पन्न होते हैं ह्र ऐसा मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है, अनन्त संसारी है ।”

क्षायिक सम्यग्दृष्टि के भी रागादि परिणति चारित्र मोहनीय कर्म की प्रबलता के कारण नहीं है तथा चारित्र पूर्ण नहीं है; अतः सम्यक्त्व गुण

में कोई कमी है हूँ ऐसा भी नहीं। चेतन-अचेतन की भिन्न प्रतीति से सम्यक्त्व गुण स्वयं निज जातिरूप होकर परिणमा है अर्थात् मैं ज्ञायकमूर्ति चेतन आत्मा हूँ, मैं अचेतन नहीं हूँ इसप्रकार ज्ञान स्वयं अपनी जातिरूप होकर परिणमा है।”^१

३८. प्रश्न हूँ सम्यक्श्रद्धान में बाधक दर्शनमोहनीय कर्म का नाश किस क्रम से होता है?

उत्तर : अनादि मिथ्यादृष्टि को सबसे पहले तो औपशमिक सम्यक्त्व ही होता है। उस समय मिथ्यात्व का अन्तरकरणरूप उपशम होता है। उस समय मिथ्यात्व के परमाणु मिश्रमोहनीयरूप व सम्यक्त्वमोहनीयरूप परिणमित होते हैं और मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति इन तीन प्रकृतियों की सत्ता रहती है।

प्रश्न ३९ हूँ दर्शनमोहनीय का सत्ता में से नाश होने का क्रम कैसा है?

उत्तर हूँ दर्शनमोहनीय कर्म के तीन भेद हैं हूँ मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व एवं सम्यक्प्रकृति। इनमें से मिथ्यात्व दर्शनमोहनीय कर्म सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति में परिवर्तित होकर नष्ट होता है, स्वमुख से नष्ट नहीं होता।

उसीप्रकार सम्यग्मिथ्यात्व भी सीधा स्वमुख से नष्ट नहीं होता, वह सम्यक्प्रकृतिरूप बदलकर अभाव को प्राप्त होता है, नष्ट होता है।

मात्र सम्यक्प्रकृति स्वमुख से उदय में आकर नष्ट होती है।

४०. प्रश्न हूँ सम्यक्प्रकृति का नाश/क्षयरूप अभाव होने का काम कब और कैसे होता है?

उत्तर : क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में रहते हुए अधःकरणादि परिणामों का निमित्त पाकर जीव जब चौथे, पाँचवें, छठवें अथवा सातवें गुणस्थान के स्वस्थान अप्रमत्तविरत गुणस्थान में रहता है तब सम्यक्प्रकृति का नाश होता है।

उपर्युक्त सम्यग्दर्शन की पूर्णता विभाग में हमने सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति एवं पूर्णता एक ही समय में होती है, यह विषय जान लिया।

- सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति मुख्यरूप से तो अविरत सम्यक्त्व नामक चौथे गुणस्थान में होती है और उसकी पूर्णता भी वहीं अर्थात् चौथे गुणस्थान में ही होती है, यह समझ लिया।
- गौणरूप से किसी-किसी मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी मुनिराज अथवा मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी श्रावक को पाँचवें गुणस्थान में सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति एवं पूर्णता भी होती है, यह विषय स्पष्ट हुआ।
- किसी-किसी द्रव्यलिंगी मुनिराज को ही सम्यक्त्व की उत्पत्ति एवं उसकी पूर्णता अप्रमत्तविरत नामक सातवें गुणस्थान में भी हो सकती है, यह विषय भी हमें समझ में आया।

४१. प्रश्न हूँ सम्यग्दर्शन की पूर्णता नामक विषय को शास्त्राधार से परीक्षा के द्वारा भी आपने अच्छा समझाया है; तथापि एक अन्तिम प्रश्न, मन में शंका न रहे इस विचार से पूछना ही चाहता हूँ, कृपया समाधान हो, ऐसा बताइए।

उत्तर हूँ ‘अच्छा समझाया है!’ यह भी स्वीकारते हो और फिर प्रश्न पूछना भी चाहते हो तो पूछ लीजिए भाई! हमें तो विषय एकदम स्पष्ट है।

४२. प्रश्न हूँ जिसतरह सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र उत्पत्ति के समय पूर्णरूप से परिणमित नहीं रहते, नियम से ज्ञान-चारित्र की पर्याय प्रारम्भ में एकदेश अपूर्ण विकसित ही रहती है। उसी तरह सम्यग्दर्शन भी उत्पत्ति के समय अपूर्ण अर्थात् अल्प विकसित मानेंगे तो कुछ आपत्तियाँ आ सकती हैं क्या ?

उत्तर : श्रद्धा गुण के परिणामन सम्बन्धी स्वरूप का आपका अज्ञान ही व्यक्त होता है। मूल में आपका प्रश्न ही गलत है, क्योंकि सम्यग्दर्शन कभी भी अपूर्ण होता ही नहीं है, उसका स्वभाव वस्तुस्वरूप से ऐसा ही है कि वह सम्यग्दर्शन किसी को और कभी भी उत्पन्न होता है तो वह पूर्णरूप से ही होता है।

फिर भी जबर्दस्ती से (विपरीत ही) प्रश्न करना चाहोगे तो निम्नानुसार अनेक प्रश्न उपस्थित होंगे ह

१. सम्यग्दर्शन के पूर्ण सम्यग्दर्शन व अपूर्ण सम्यग्दर्शन ह ऐसे दो भेद मानने होंगे, जो कि आगम में कहीं भी नहीं हैं, अतः आगम के विरोध का प्रसंग आयेगा।
2. दर्शनमोहनीय की मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से मिथ्यादर्शन होता है, सम्यग्मिथ्यात्व के उदय से मिश्र गुणस्थान व सम्यक्प्रकृति के उदय से समल सम्यग्दर्शन (क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन) होता है। अब दर्शनमोहनीय की ऐसी कोई प्रकृति ही शेष नहीं रही, जो अपूर्ण सम्यग्दर्शन के लिए कारण/निमित्त बने। अतः एक नयी प्रकृति माननी होगी, जो करणानुयोग/आगम को मान्य नहीं होगी।
३. प्रथमानुयोग में ऐसे किसी भी व्यक्ति का उल्लेख नहीं है, जिसे अपूर्ण सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ हो।
४. चरणानुयोग में अपूर्ण सम्यग्दर्शियों के लिए कोई भी चारित्र का उल्लेख नहीं है।
५. सम्यग्दर्शन के कारण अनन्त गुणों में सम्यक्पना आने का जो नियम जिनवाणी में आया है, वह नियम नहीं रह पायेगा। यदि श्रद्धा में अपूर्णता है तो ज्ञान और चारित्र में सम्यक्पना कैसे आयेगा?
६. सम्यग्दर्शन को अनन्त गुणों का नेता कहा गया है, वह नेतापना नहीं रहेगा। जो स्वयं अपूर्ण है, उसका अन्य गुणों के सम्यक्पने में निमित्तपना कैसे होगा?
७. सम्यग्दर्शन के कारण मोक्षमार्ग प्रगट होने की बात नहीं रह पायेगी।
८. सम्यग्दर्श को उपादेय वस्तु के स्वीकृति का अभाव मानना पड़ेगा।
९. श्रद्धा के सम्यग्दर्शनरूप वास्तविक परिणमन के बिना ही चारित्र ग्रहण करने का अनिष्ट प्रसंग प्राप्त होगा।

१०. कौन से सम्यग्दर्श को तीर्थकर प्रकृति का बन्ध होगा ? पूर्ण सम्यग्दर्श को या अपूर्ण सम्यग्दर्श को ? कुछ व्यवस्था नहीं रहेगी।
११. करणानुयोग के शास्त्र में सम्यग्दर्श को ४१ कर्म प्रकृतियों की बंध व्युच्छित्ति की बात कही है। यह व्युच्छित्ति औपशमिक, क्षायोपशमिक एवं क्षायिक सम्यग्दर्शियों को ह सबको मात्र ४१ कर्मों की कही है।
अब आपके अभिप्रायानुसार अपूर्ण सम्यग्दर्श को कितने तथा कौनसे कर्मों की बंध व्युच्छित्ति मानना ह यह प्रश्न उपस्थित होगा।
१२. सम्यग्दर्श को जीवादि सात तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान होता है; ऐसा शास्त्र में कथन आया है। यदि सम्यग्दर्शन अपूर्ण मानेंगे तो उसे जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान कैसा होगा? यह निर्णय नहीं हो पायेगा तथा श्रद्धान में विषमता होगी।
१३. सम्यक्त्व की उत्पत्ति के समय से अन्तर्मुहूर्त काल पर्यन्त नियम से असंख्यात गुणी निर्जरा कही गयी है। ४ थे गुणस्थान से ५ वें आदि आगे के गुणस्थानों में निरन्तर असंख्यात गुणी-असंख्यात गुणी अधिक निर्जरा बताई गयी है। यह सब व्यवस्थित व्यवस्था नहीं रहेगी।
१४. सम्यग्दर्शन के प्राप्ति के काल में शुद्धोपयोग रहने का नियम है। अपूर्ण सम्यग्दर्शन के उत्पत्ति के काल में कौनसा उपयोग रहेगा ? यह प्रश्न उपस्थित होगा।
१५. सम्यग्दर्श के भोग निर्जरा का कारण हैं, ऐसा कथन आता है। अब इस अपूर्ण सम्यग्दर्श के क्या मानोगे ?
१६. सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बाद नरकायु तिर्यच-मनुष्य आयु का बन्ध नहीं होता आदि अनेक नियम हैं, यह सब व्यवस्था गड़बड़ा जायेगी। संक्षेप में यही स्वीकारना आवश्यक है कि सम्यग्दर्शन कभी आधा अधूरा होता ही नहीं। वह तो नियम से आगमानुसार पूर्ण रहता है।

अनावश्यक विकल्प/वितर्क करने में कुछ लाभ नहीं है। शास्त्र में जो विषय जैसा आया है, उसे वैसा ही मान्य तथा स्वीकार करना आत्मकल्याण का मार्ग है। परीक्षा करके निर्णय करने के लिए अनेक प्रकार से तर्क-वितर्क किया जा सकता है।

हमें यह भी समझना आवश्यक है कि जिनवाणी का प्रत्येक प्रकरण व विवक्षाएँ हमें एकदम सुस्पष्ट हो ही जाना चाहिए, यह अनिवार्य नहीं है।

कुछ विषय हम चाहते हैं उतना परिपूर्ण निर्मलरूप क्षयोपशम की हीनता से स्पष्ट प्रतिभासित नहीं होंगे। ऐसी परिस्थिति में सर्वज्ञ भगवान की आज्ञा मानकर ही हमें अनेक विषयों को स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है।

यह कथन मात्र करणानुयोग के विषय के सम्बन्ध में ही लागू होता है, ऐसा नहीं है। द्रव्यानुयोग के भी ऐसे अनेक विषय हैं हू जैसे, समय मात्र की पर्याय, धर्मादि अरूपी द्रव्य, काल द्रव्य की समय-मात्र पर्याय, समय-समय में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य का ज्ञान, अविभागी प्रतिच्छेदों का ज्ञान, एक प्रदेश, एक परमाणु आदि का ज्ञान हम अल्पज्ञों को कहाँ उतना निर्मल/प्रत्यक्ष होता है, जितना हम चाहते हैं।

अनेक विषयों को आगम के आधार से एवं युक्ति के अवलंबन से ही मानना आवश्यक रहता है। प्रत्येक विषय की पूर्णरूप से परीक्षा सम्भव नहीं है।

यहाँ मुख्यता से श्रद्धा गुण के परिणमन/पर्याय की बात चल रही है अर्थात् सम्यग्दर्शनरूप पर्याय उत्पत्ति के समय से ही पूर्णरूप से विकसित रहती है, इसको हमें स्वीकार करना है।

परीक्षा करने का निषेध तो है नहीं। परीक्षा के सम्बन्ध में मोक्षमार्ग प्रकाशक के सातवें अध्याय का व्यवहाराभासी का पृष्ठ २१६ के दो शंकाओं का समाधान देखना उपयोगी है। वह अंश हम आगे दे भी रहे हैं हू

४३. “प्रश्न हू फिर वह कहता है हू छद्मस्थ से अन्यथा परीक्षा हो जाये तो वह क्या करे?

समाधान हू सच्ची-झूठी दोनों वस्तुओं को कसने से और प्रमाद छोड़कर परीक्षा करने से सच्ची ही परीक्षा होती है। जहाँ पक्षपात के कारण भलेप्रकार परीक्षा न करे, वहाँ अन्यथा परीक्षा होती है।

तथा वह कहता है कि शास्त्रों में परस्पर-विरुद्ध कथन तो बहुत हैं, किन-किन की परीक्षा की जाये?

समाधान हू मोक्षमार्ग में देव-गुरु-धर्म, जीवादि तत्त्व व बन्ध-मोक्षमार्ग प्रयोजनभूत हैं, सो इनकी परीक्षा कर लेना। जिन शास्त्रों में वह सच्चे कहे हों उनकी सर्व आज्ञा मानना, जिनमें यह अन्यथा प्ररूपित किये हों उनकी आज्ञा नहीं मानना।

जैसे हू लोक में जो पुरुष प्रयोजनभूत कार्यों में झूठ न बोले, वह प्रयोजनरहित कार्यों में कैसे झूठ बोलेगा? उसी प्रकार जिस शास्त्र में प्रयोजनभूत देवादिक का स्वरूप अन्यथा नहीं कहा, उसमें प्रयोजनरहित द्वीप-समुद्रादिक का कथन अन्यथा कैसे होगा? क्योंकि देवादिक का कथन अन्यथा करने से वक्ता के विषय-कषाय का पोषण होता है।”

इस तरह सम्यग्दर्शन का विषय यहाँ पूर्ण होता है।

अब अगले दूसरे भाग में सम्यग्ज्ञान का विषय चलेगा।

सर्वप्रथम हम निम्नप्रकार यह स्पष्ट जानते हैं हू

- सम्यग्दर्शन के समान सम्यग्ज्ञान उत्पत्ति के समय ही पूर्ण नहीं होता।
- किसी भी मोक्षमार्ग के साधक को मोक्षमार्ग की साधना प्रारम्भ होते ही केवलज्ञान नहीं होता।
- सम्यग्ज्ञान की पूर्णता केवलज्ञानरूप ही है और वह १३वें गुणस्थान के प्रथम समय में होती है।

[सम्यग्दर्शन की पूर्णता (पहला भाग) समाप्त]

हू●हू

सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति, विकास एवं पूर्णता का स्वरूप एकदम भिन्न प्रकार का ही है, यह तो हम पूर्ण प्रकरण में जानने का प्रयास करेंगे।

पहले ज्ञानगुण का सामान्य स्वरूप जानने का प्रयास करते हैं। वह आगे दे रहे हैं हू

दूसरा भाग

ज्ञान गुण का स्वरूप

१. ज्ञान, आत्मा का निर्दोष लक्षण है।
२. ज्ञान, हेय ज्ञेय एवं उपोदय तत्त्व का निर्णय करता है।
३. ज्ञान, स्व-पर को जानने का कार्य करता है। सविकल्प रहना ज्ञान का स्वरूप है। मति, श्रुत अवधि, मनःपर्यय एवं केवलज्ञान में ये पाँचों ज्ञान प्रमाणरूप रहते हैं। मात्र श्रुतज्ञान प्रमाण एवं नयात्मक है।
४. जीवादि अनंत द्रव्यों को, उनके अनंतानंत गुणों को, उन गुणों की अनंत पर्यायों को तथा इन अनंतानंत द्रव्य-पर्यायों को भी ज्ञान एक ही समय में जानने का सामर्थ्य रखता है।
५. ज्ञान, स्वरूप से ही स्व-पर प्रकाशक है।
६. ज्ञान, एकान्त-अनेकात्मक सर्व-वस्तु को मात्र जानता है।
७. श्रुतज्ञान, अपने जाननेरूप कार्य में मुख्य-गौण करता है।
८. नय ज्ञान में अनेक अपेक्षाएँ गर्भित रहती हैं। नय, मात्र श्रुतज्ञान में होते हैं।
९. मिथ्यादर्शनमोहनीय कर्म के उदय काल में ज्ञान गुण के परिणमन का नाम मिथ्याज्ञान है।
१०. ज्ञान गुण के निर्मल/सम्यक् परिणमन का नाम सम्यग्ज्ञान है। यह कार्य दर्शनमोहनीय कर्म के अभाव में ही होता है।

११. ज्ञान, अल्पज्ञ अवस्था में अपूर्ण (अविकसित) और सर्वज्ञ अवस्था में पूर्ण विकसित होता है। ज्ञान, शक्तिरूप से सर्वदा शुद्ध तथा पूर्ण ही रहता है।
१२. विचार करना, चिन्तन-मनन-निर्णय करना ही ज्ञान का कार्य है, अतः असत्य, अज्ञान एवं अन्धेपने का विरोध करना सम्यग्ज्ञान का स्वभाव है।
१३. श्रद्धेय वस्तु का निर्णय करके श्रद्धा के लिए ज्ञान ही श्रद्धेय वस्तु प्रस्तुत करता है। श्रद्धा के कारण में सहयोगी बनता है।
१४. ज्ञान, नियम से अनंतानंत ज्ञेयों को जानने पर भी वह उन ज्ञेयों से सतत अप्रभावित ही रहता है।
१५. ज्ञान का स्वभाव मात्र जानना है, ज्ञेयों में कुछ परिवर्तन करना नहीं है।
१६. ज्ञान, अपनी जगह (जीव में) रहता है और अनंतानंत ज्ञेय, अपने-अपने स्थान में रहते हैं (अर्थात् ज्ञान और ज्ञेय भिन्न-भिन्न ही रहते हैं); तथापि ज्ञान ज्ञेयों को स्पष्ट जानता है।
१७. ज्ञान के विकास का घातक कर्म ज्ञानावरण है।
१८. जैसे दर्पण, वस्तु को स्वभाव से झलकाता है। वस्तु, दर्पण में सहज झलकती हैं; वैसे ज्ञान, वस्तु को सहज जानता है और ज्ञेय वस्तु भी ज्ञान में झलकती हैं ह्व जाने जाते हैं।
१९. ज्ञान, अल्पज्ञ अवस्था में लब्धि एवं उपयोगरूप (कार्यशील) रहता है। सर्वज्ञ अवस्था में ज्ञान मात्र उपयोग स्वरूप ही रहता है।
२०. सम्यग्ज्ञान की पूर्णता तेरहवें गुणस्थान में केवलज्ञानरूप से व्यक्त होती है।

सम्यग्ज्ञान की पूर्णता

(अक्रम से)

इसके पहले सम्यक्त्वरूप पर्याय के प्रकरण में सम्यक्त्व की उत्पत्ति तथा उत्पत्ति के साथ ही उसकी पूर्णता को यथासंभव विस्तार के साथ समझाया है।

अब हमें सम्यक्ज्ञान की उत्पत्ति, उसका विकास एवं उसकी पूर्णता को मुख्य विषय बनाकर आगम के आलोक में उसे जानना है। इतना तो निश्चित है कि सम्यक्त्व की उत्पत्ति के साथ ही ज्ञान भी नियम से सम्यक् होता है। तथापि सम्यक्त्व के निमित्त से ज्ञान का सम्यक् होना अलग बात है और ज्ञान गुण के पर्याय की पूर्णता (केवलज्ञान) होना अलग बात है।

जैसे सम्यक्त्वरूप पर्याय, उत्पत्ति के समय से ही पूर्णरूप से प्रगट रहती है, वैसा ज्ञान के संबंध में नहीं है।

१. ज्ञान का सम्यक् होना,
२. ज्ञान का विकास होते रहना,
३. ज्ञान की पूर्णता होना ह्व इन सबका स्वरूप अपने स्वभाव से भिन्न प्रकार का ही है।

प्रत्येक गुण के परिणामन की एक सुनिश्चित मर्यादा होती है। अगुरुलघु गुण यह कार्य करता है। यह गुण द्रव्य को छोटा अथवा बड़ा नहीं होने देता, जितना द्रव्य है, उसे उतना ही रखने का काम करता है।

उसी तरह यही अगुरुलघु गुण प्रत्येक गुण की पर्याय के संकोच एवं विस्तार को भी निश्चित करता है।

यदि ज्ञान गुण की अधिक से अधिक हीन पर्याय (अवस्था) होगी तो अक्षर के अनंतवे भागरूप नित्योद्घाटी ज्ञानरूप हीन पर्याय प्रगट होगी। यह अवस्था निगोद पर्याय में होती है। इससे अधिक ज्ञान की हीन अवस्था हो ही नहीं सकती।

यदि ज्ञान की इससे भी अधिक हीन अवस्था होती तो जीव जड/अचेतन ही हो जायेगा। इससे हीन ज्ञान की अवस्था होना सम्भव ही नहीं है।

अब ज्ञान गुण का विकास अधिक से अधिक होगा तो केवलज्ञानरूप/सर्वज्ञरूप होगा। इससे अधिक विकसित होने का वस्तु-व्यवस्था में अवकाश ही नहीं है, आवश्यकता भी नहीं है।

गुण में या द्रव्य में जो कार्य होता है, वह अपनी-अपनी मर्यादा के अनुसार ही होता है, किसी के विकल्प के अनुसार नहीं होता।

गुब्बारा उतना ही फूलेगा, जितनी उसकी पर्यायगत पात्रता है। मेंढक अपने विकल्प के अनुसार अपने शरीर को बड़ा तो बना सकता है; लेकिन बैल जितना बड़ा तो नहीं बना पायेगा।

ज्ञान के हीनाधिक होने की जानकारी निम्नप्रकार कर सकते हैं ह्व
ज्ञान की वृद्धि एवं पूर्णता का कुछ भी खास नियम नहीं है।

१. चौथे-पाँचवें गुणस्थानवर्ती साधक मनुष्य-तिर्यच को सामान्यरूप से मात्र मति-श्रुत दो ही ज्ञान हो सकते हैं।
२. देव-नारकियों को सम्यक्त्व की उत्पत्ति के समय मति-श्रुत-अवधि तीन सम्यक्ज्ञान भी होना सहज है।
३. किसी बारहवें गुणस्थानवर्ती पूर्ण वीतरागी मुनिराज को मात्र मति-श्रुत दो ही ज्ञान रह सकते हैं।
४. किसी छठवें से बारहवें गुणस्थानवर्ती मुनिराज को मत्यादि तीन अथवा चार ज्ञान होना भी संभव है।
५. केवलज्ञान के पहले ज्ञान गुण के विकास का कुछ भी विशेष क्रम निश्चित नहीं है।
६. सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के बाद ज्ञान की पूर्णता अर्थात् केवलज्ञान की उत्पत्ति का निश्चित एक नियम अर्थात् क्रम नहीं है।
७. किंचित् न्यून अर्द्धपुद्गलपरावर्तन काल में कभी भी सम्यग्ज्ञान की पूर्णता हो जाती है, यही नियम है।

८. सम्यग्ज्ञान की केवलज्ञानरूप पूर्णता कुछ काल व्यतीत होने पर अथवा कुछ भव व्यतीत होने पर भी हो सकती है।
९. इसका स्पष्ट भाव यह है कि ज्ञान का सम्यक्पना और ज्ञान गुण की पूर्ण पर्याय प्रगट होना ह्व इन दोनों में नियम से कालभेद होता ही है।
१०. तेरहवें गुणस्थान के पहले समय में ज्ञान गुण की केवलज्ञानरूप परिपूर्ण पर्याय प्रगट होती है।

आगे ज्ञान की पूर्णता एवं विकास के संबंध में ही प्रश्नोत्तररूप से क्रम पूर्वक कुछ कथन करते हैं।

४४. प्रश्न ह्व तेरहवें गुणस्थान के प्रथम समय में ही सम्यग्ज्ञान का विकास केवलज्ञानरूप से पूर्ण होता है, ऐसा न मानकर जैसे सम्यग्दर्शन, उत्पत्ति के काल में ही पूर्णता के साथ उत्पन्न होता है, वैसे सम्यग्ज्ञान भी उत्पत्ति के काल में ही केवलज्ञानरूप से परिणत हो जाता है; ऐसा मानेंगे तो क्या आपत्तियाँ आ सकती हैं?

उत्तर : हाँ, अनेक प्रकार की आपत्तियाँ आ सकती हैं; जिन्हें क्रम से हम आगे दे रहे हैं ह्व

१. अपूर्ण वीतरागी साधक को ही केवलज्ञान हो जायेगा; क्योंकि सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति चौथे, पाँचवे अथवा सातवें गुणस्थान में सम्यग्दर्शन के साथ ही होती है। इन तीनों में से किसी भी गुणस्थानों में साधक नियम से अपूर्ण वीतरागी रहता है। आपके कथनानुसार इन तीनों गुणस्थानवर्ती जीवों को केवलज्ञान हो जायेगा।

२. चौथे गुणस्थानवर्ती साधक असंयमी रहता है, उसे भी केवलज्ञान हो जायेगा। चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अशुभोपयोग की भूमिका में व्यापार-धंधा करता रहता है ह्व केवलज्ञान होने के बाद भी सकल परमात्मा से संसारीवत् व्यापार-धंधा कराना है क्या? वह शादी करेगा, उसे बाल-बच्चे होंगे। आधि, व्याधि व उपाधियों से ग्रसित होगा। आप ही सोचिए आपत्तियों का कितना सिलसिला चालू होगा।

३. मात्र तेरहवें गुणस्थान के पहले समय में ही केवलज्ञान उत्पन्न होने का नियम नहीं रहेगा। गुणस्थान की अनादि-अनंत सुनिश्चित क्रमिक व्यवस्था बिगड़ जायेगी।

४. उपशम श्रेणी, क्षयक श्रेणी ह्व दोनों श्रेणियों का अभाव मानना अनिवार्य हो जायेगा; क्योंकि दोनों श्रेणियाँ ८वें गुणस्थान से मोहनीय कर्म के उपशम या क्षयपूर्वक ही प्रारंभ होती हैं और यहाँ तो उसके पहले ही केवलज्ञान हो जायेगा।

अथवा

केवलज्ञान होने के बाद मोहनीय कर्मों का उपशम या क्षय करने के लिए अपूर्वकरणादि गुणस्थान मानना अनिवार्य हो जायेगा। अथवा आवश्यक नहीं होगा; क्योंकि चारित्र मोहनीय कर्म का उपशम या क्षय का प्रारम्भ अपूर्वकरणादि गुणस्थानों में ही हो जाता है।

५. चौथे, पाँचवें, सातवें गुणस्थानवर्ती जीव अपनी भूमिका के अनुसार रागी-द्वेषी, सुखी-दुःखी भी रहेंगे ह्व उनको केवलज्ञान मानने से रागी-द्वेषी को भी केवलज्ञान होगा और पूर्णज्ञान के साथ अतिन्द्रिय सुख न होने से वे दुखी ही रहेंगे। पूर्ण वीतरागता के बाद ही केवलज्ञान होता है; यही वास्तविक मार्ग है।

६. अविरत सम्यग्दृष्टि को केवलज्ञान मानने के कारण चरणानुयोग कथित व्रतों के आचरणरूप साधक अवस्था के बिना केवलज्ञान होने से महान अनर्थ होगा।

७. आहारदानादि सर्वोत्तम व्यावहारिक पुण्य कार्य ह्व दान तीर्थ का अभाव होगा, क्योंकि सम्यग्दर्शन के साथ ही केवलज्ञान हो जायेगा तो आहार किसको देंगे? अथवा केवली को आहार मानने की आपत्ति आयेगी।

८. भावलिंगी मुनिराज का भी अभाव मानना पड़ेगा; क्योंकि चौथे, पाँचवें गुणस्थान में ही केवलज्ञान हो जायेगा। इस कारण आचार्य, उपाध्याय एवं साधु परमेष्ठी ह्व इन तीनों साधु की अवस्थाओं का अभाव ही होगा। दीक्षा देना आदि कार्य भी कैसे हो सकेंगे?

९. भावलिंगी श्रावक भी नहीं रहेंगे; क्योंकि चौथे गुणस्थानवाले को ही आपने केवलज्ञान मान लिया है।

१०. तीर्थकरों के गणधर भी नहीं रह पायेंगे; क्योंकि साधक अवस्था अल्पकाल की रहेगी। तीर्थकरों के गणधर होने का सब कथन असत्य ठहरेगा।

११. बाह्य एवं अंतरंगतप का आचरण कौन, कैसे और कब करेगा? क्योंकि मुनिदशा होने के पहले ही केवज्ञान हो जायेगा।

अथवा

केवली हो जाने के बाद तप मानना आवश्यक हो जायेगा।

१२. ग्यारहवें उपशांत मोह गुणस्थान से भी मुनिराज अपनी पुरुषार्थहीनता से तथा कर्मों के उदय के निमित्त से निचले गुणस्थान में जाते हैं, इस आगम वचन की सत्यता नहीं रहेगी।

कोई-कोई मुनिराज केवलज्ञानी होने के पूर्व अधिक से अधिक (अनेक मनुष्य भवों में) चार बार उपशम श्रेणी चढ़ सकते हैं, यह आगम वचन बाधित होगा।

१३. नारकी, देव, तिर्यच भी केवज्ञान प्राप्त कर सकेंगे; क्योंकि इन तीनों गतियों में जीव सम्यग्दर्शन तो प्राप्त कर ही सकता है और आपके कथनानुसार सम्यक्त्व होते ही केवलज्ञान हो जायेगा।

१४. मनुष्य स्त्री, नपुंसक को एवं स्त्रीलिंगी पशु को भी केवलज्ञान हो जायेगा; क्योंकि ह्व ये तीनों सम्यक्त्व तो प्राप्त कर ही सकते हैं, इतना ही नहीं इनको पंचम गुणस्थान भी तो हो सकता है। इस कारण श्वेताम्बर मत की मान्यता पुष्ट हो जायेगी।

१५. सम्यग्दृष्टि, व्रती श्रावक एवं मुनिराज से देशना/तत्त्वोपदेश देने का पवित्र एवं परोपकारी कार्य नहीं हो पायेगा; क्योंकि इन तीनों को सम्यग्दर्शन होते ही केवलज्ञान हो जायेगा। देशना मात्र केवलज्ञानी ही दे पायेंगे।

१६. सर्वावधि-परमावधि ज्ञान व मनःपर्ययज्ञान का भी अभाव ही मानना अनिवार्य हो जायेगा; क्योंकि ये विशिष्टज्ञान, वृद्धिगत चारित्रवाले मुनिराज को ही होते हैं; ऐसा नियम है।

आपके अभिप्राय के अनुसार कदाचित् किसी मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी मुनिराज को सातवाँ गुणस्थान प्राप्त होने के कारण सातवें गुणस्थान में ही सम्यक्त्व व सम्यग्ज्ञान एक साथ हो जायेंगे एवं उसी समय केवलज्ञान हो जायेगा। चारित्र उत्तरोत्तर विकसित करने के लिए समय ही नहीं मिलेगा। इसलिए मनःपर्यय ज्ञान के अभाव की भी आपत्ति आ जायेगी।

१७. केवलज्ञान उत्पन्न होने के पहले सम्यक् मतिज्ञान-श्रुतज्ञान उत्पन्न ही नहीं हो सकेंगे। जीव मिथ्यादृष्टि अवस्था में प्रथम सम्यग्दर्शनरूपी धर्म का पुरुषार्थ करता है, तब सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं केवलज्ञान की ही उत्पत्ति (युगपत्) एक ही काल में होगी। अतः सम्यक्मति-श्रुतज्ञान का अभाव स्वीकारना आवश्यक होगा।

१८. सुअवधिज्ञान का अस्तित्व नहीं रहेगा, क्योंकि विभंगावधिवाले देव-नारकियों को जब सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के उत्पत्ति के काल में ही केवलज्ञान उत्पन्न होगा तो अल्पज्ञानरूप अवधिज्ञान उत्पन्न होने के लिए अवकाश ही नहीं मिलेगा। इसलिए अवधिज्ञान का भी अभाव मानने की आपत्ति आ जायेगी।

इसका स्पष्ट अर्थ यह हो गया कि पाँचों प्रमाण ज्ञान में से मात्र एक केवलज्ञान ही रहेगा, अन्य चारों सम्यग्ज्ञानों का अभाव मानने की आपत्ति आ जायेगी।

कुमति, कुश्रुत एवं विभंगावधि ज्ञान तो रहेंगे।

१९. सम्यग्दृष्टि, तीर्थकर प्रकृति नामक महान पुण्यकर्म का बंध कर सकता है; यह कथन असत्य सिद्ध होगा; क्योंकि सम्यग्दृष्टि को तो सम्यक्त्व होते ही केवलज्ञान हो गया, अब वह तीर्थकर प्रकृति का बंध कैसे करेगा?

२०. चक्रवर्ती, कामदेव आदि पुण्य-पुरुषों का जन्म होना भी नहीं बन सकेगा, क्योंकि ऐसा विशिष्ट पुण्यकर्मों का बंध तो सम्यग्दृष्टि ही अपनी साधक अवस्था में कर सकता है और आपके विचारानुसार सम्यग्दृष्टि को तो तत्काल केवलज्ञान ही होगा।

२१. गुरु-शिष्य का संबंध ही नहीं बन पायेगा। जब कोई विशेष पात्र साधक हो तो वह गुरु बनेगा और जो कम पात्रतावाला हो तो शिष्य बनेगा, लेकिन आपके मान्यतानुसार सम्यग्दर्शन होते ही सबको केवलज्ञान ही प्राप्त हो तो गुरु-शिष्य का व्यवहार नहीं बन सकेगा।

२२. ज्ञानियों के द्वारा शास्त्र की रचना करने का कार्य नहीं हो पायेगा; क्योंकि ज्ञानी होते ही वह जीव केवली बनेगा, फिर शास्त्र कैसे लिख पायेगा? केवलज्ञानी तो शास्त्र लिखेंगे नहीं। द्रव्यशास्त्र लिखने की परम्परा का अभाव ही हो जायेगा।

२३. चारों गतियों में कोई जीव सम्यग्दर्शन के साथ जन्म ले नहीं पायेगा; क्योंकि पूर्वभव से सम्यग्दर्शन लेकर जाने का कार्य रहेगा ही नहीं।

२४. सम्यग्दृष्टि के भोग, निर्जरा के कारण हैं; ऐसा सम्यक्त्व की महिमा बताने वाला उपचरित कथन भी नहीं बन पायेगा; क्योंकि सम्यग्दृष्टि भोग भोगने लायक जीवन-यापन के लिए अल्पज्ञ अवस्था में रहेगा ही नहीं।

२५. अनादि मिथ्यादृष्टि को सबसे पहले प्रथमोपशम सम्यक्त्व ही होता है। उसे तत्काल केवलज्ञान ही हो जायेगा। इसकारण अब क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, द्वितीयोपशम सम्यक्त्व तथा क्षायिक सम्यक्त्व होंगे ही नहीं। इन तीनों सम्यक्त्व का अभाव ही मानना पड़ेगा।

अथवा

केवली होने के बाद क्षायोपशमिक एवं क्षायिक सम्यक्त्व मानना अनिवार्य हो जायेगा, जो सर्वथा अनुचित है, असंभव है। आगम के विरुद्ध है।

२६. चारित्र के बिना केवलज्ञान हो जाने से चारित्तं खलु धम्मो यह महत्वपूर्ण सिद्धान्त असत्य सिद्ध होगा।

२७. सम्यक्त्व एवं चारित्र के अतिचारों का कथन करना बनेगा नहीं; क्योंकि साधक अधिक काल तक सम्यग्दृष्टि नहीं रहेगा तथा व्रती भी नहीं बनेगा।

२८. पाँचवें देशविरत आदि गुणस्थानवर्ती साधकों को भी (सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान पर्यंत) भूमिकानुसार कर्मबंध का कथन जो शास्त्र में आया है, वह सब असत्य मानना पड़ेगा।

२९. ज्ञानधारा-कर्मधारा अर्थात् मिश्रधर्म का कथन भी करना नहीं बनेगा; क्योंकि ऐसा साधक जीव ही नहीं रहेगा।

३०. चौथे गुणस्थान को तेरहवाँ गुणस्थान मानना पड़ेगा; क्योंकि तेरहवें गुणस्थान का काम चौथे गुणस्थान में ही हो गया है। करणानुयोग में चौथे गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान पर्यंत का कर्मों की सत्ता, संवर, निर्जरा आदि का सर्व कथन मिथ्या सिद्ध होगा अथवा इन कर्मों की सत्ता के साथ केवलज्ञान उत्पन्न होना मानना पड़ेगा; जो सर्वथा अनुचित है।

४५. प्रश्न ह्व केवलज्ञान तेरहवें गुणस्थान में ही होता है, ऐसा हम मानते हैं। आप व्यर्थ ही सम्यक्त्व के साथ ही केवलज्ञान हो तो क्या आपत्तियाँ आयेंगी, इसतरह प्रश्न उपस्थित करके आप स्वयं तो निरर्थक परेशान हो ही रहे हो, हमें भी मानों उलझन में डाल रहे हो।

जैसा शास्त्र में कथन आया है, वैसा मानोगे तो शांति रहेगी। अब बोलो आपको क्या कहना है?

उत्तर : हमें कुछ नया कहना मानना-मनवाना नहीं है। शास्त्रगत अपेक्षाओं को व विषयों को न मानने से अनेक आपत्तियाँ आती हैं, यह समझ में आने पर शास्त्र के कथन पर विश्वास/श्रद्धा करवाने का ही एकमेव प्रयोजन है, अन्य कोई हमारा अभिप्राय नहीं है।

परीक्षा करके सत्यासत्यता का निर्णय करने से तत्त्वश्रद्धा विशेष दृढ़ होती है। इसलिए आपत्ति का प्रश्न उपस्थित किया है।

४६. प्रश्न हूँ तेरहवें गुणस्थान में सम्यग्ज्ञान की केवलज्ञानरूप (पूर्ण पर्याय) पूर्णता होने के बाद आगे चौदहवें गुणस्थान में उसमें क्या कुछ विशेष विकास होता है ?

उत्तर हूँ नहीं, केवलज्ञानरूप ज्ञान की पूर्णता चौदहवें गुणस्थान में भी रहती है और सिद्ध अवस्था में भी अनन्त काल पर्यंत केवलज्ञान ही वर्तता है; कुछ हीनाधिकता नहीं होती।

ज्ञान की पूर्णता होने के बाद उसमें विकास के लिए कोई अवकाश ही नहीं है और पूर्ण ज्ञान होने के बाद उसमें फिर अपूर्ण ज्ञानरूप से परिणमन होने का कुछ कारण भी नहीं है।

४७. प्रश्न हूँ तेरहवें गुणस्थान में ज्ञान का विकास केवलज्ञानरूप से पूर्ण होता है; ऐसा आपने कहा। हूँ हमें शंका यह होती है कि अनन्त काल के भविष्य में केवलज्ञान में भी कुछ न कुछ विकास होता ही रहना चाहिए। केवलज्ञानरूप पूर्ण विकास के बाद ज्ञान का विकास रुकता क्यों है ?

उत्तर : केवलज्ञानावरण सर्वघाति कर्म का अभाव होने पर ज्ञान परिपूर्ण विकसित होने के बाद कोई अन्य बाधक कारण नहीं है; जिससे ज्ञान हीनाधिक हो।

केवलज्ञानरूप पूर्ण विकास होने के बाद फिर ज्ञान के विकास के लिए अवकाश ही नहीं है; क्योंकि केवलज्ञान में सभी द्रव्यों, सभी (भूत-भावी एवं वर्तमान) पर्यायों को एक साथ झलकने से अर्थात् (युगपत्) जानने के बाद सम्पूर्ण विश्व में अज्ञात कोई वस्तु ही नहीं रहती तो ज्ञान में विकास क्यों और कैसे होगा ?

एक बार ज्ञान गुण की परिपूर्ण अवस्था अर्थात् केवलज्ञानरूप पर्याय व्यक्त/प्रगट/उत्पन्न होने के बाद प्रत्येक समय में नई-नई केवलज्ञानरूप पर्याय उत्पन्न होती ही रहती है। भविष्य में भी अनन्तकाल पर्यंत सतत हर समय में वैसी की वैसी पर्याय (केवलज्ञान) प्रगट होती ही रहेगी; तथापि

पर्याय नई-नई होती रहती है; वहीं की वहीं पर्याय नहीं रहती। यह पर्यायगत स्वरूप अलौकिक एवं अनुपम है। जैनदर्शन को छोड़कर अन्यत्र यह वस्तु-व्यवस्था की सूक्ष्मता एवं सत्यता देखने-सुनने को नहीं मिलेगी।

इसीलिए केवलज्ञान होने के बाद अनन्त काल तक भविष्य में विकास के लिए नियम से अवकाश ही नहीं है-आवश्यकता भी नहीं है।

४८. प्रश्न हूँ केवलज्ञानरूप स्वाभाविक शुद्ध पर्याय में भी षट्गुणहानि-वृद्धिरूप कार्य तो होता ही रहता है तो केवलज्ञानरूप पर्याय भी छोटी-बड़ी तो होती ही रहेगी, इसमें क्या आपत्ति है ?

उत्तर : प्रत्येक द्रव्य की अर्थपर्याय में षट्गुणहानिवृद्धिरूप कार्य तो नियम से होता ही रहता है, इसमें कुछ संदेह नहीं है। इस कारण केवलज्ञानरूप पर्याय छोटी-बड़ी होती होगी, ऐसा स्वीकारना आगम को सम्मत नहीं हो सकता।

जैसे दो पाव दूध गरम करते समय अधिक गरम करते ही रहेंगे तो उस दूध में उफान तो आयेगा ही। उफनते समय दूध बढ़ गया, ऐसा भ्रम तो हो सकता है; लेकिन दूध बढ़ता नहीं, दूध उतना का उतना ही रहता है। उसी प्रकार केवलज्ञानरूप अर्थपर्याय में अविभाग प्रतिच्छेद घटते-बढ़ते हैं, तथापि केवलज्ञान में हानि-वृद्धि नहीं होती। यह तो स्थूल दृष्टान्त है। वास्तविक स्वरूप केवलज्ञानगम्य है।

इसीप्रकार मोक्षावस्था के प्रथम समय में चारित्र गुण के सम्यक् एवं परिपूर्ण परिणमन होने के बाद भविष्य में अनन्त काल पर्यंत वह यथावत् सम्यक् एवं परिपूर्ण ही रहता है।

४९. प्रश्न हूँ केवलज्ञानरूप परिणमन के पहले होनेवाले ज्ञान गुण के विकास का क्या स्वरूप है ?

उत्तर हूँ ज्ञान गुण के सम्यक् परिणमन के बाद उसकी पूर्णता के पहले ज्ञान गुण के विकास का स्वरूप कुछ अलग ही है। इसमें नियमरूप

कुछ नहीं है।

१. यदि किसी नारकी अथवा देव को सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है तो उसको सम्यग्दर्शन के साथ ही तीनों (कुमति, कुश्रुत, कुअवधि) ज्ञान नियम से सम्यक् ही हो जाते हैं।
२. यदि बद्धायुष्क मनुष्य अथवा तिर्यच गति से सम्यक्त्व के साथ नरक, तिर्यच वा देवगति में जीव उत्पन्न होता है तो भी ये तीनों ज्ञान सम्यक् ही रहते हैं।
३. यदि मनुष्य या तिर्यचगति में नया सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है तो उनके मति-श्रुतज्ञान सम्यक् रूप परिणत हो जाते हैं।
४. यदि मनुष्य या तिर्यच असंयमी-संयमासंयमी हों तो उन्हें मति-श्रुतज्ञान के साथ अवधि ज्ञान भी सम्यक् रूप हो सकता है।
५. यदि मनुष्य, मुनि बनकर चारित्र विकसित करते ही रहें तो उन्हें मति-श्रुत-अवधि ज्ञान के साथ मनःपर्यय ज्ञान भी उत्पन्न हो सकता है।
६. अंत में मात्र एक केवलज्ञान ही उत्पन्न होता है।
७. पाँचों ज्ञान किसी भी जीव को कभी भी एक साथ नहीं रहते।

५०. प्रश्न हूँ केवलज्ञान होने के पहले मति आदि चारों ज्ञान होना ही चाहिए हूँ यह नियम है क्या ?

उत्तर हूँ नहीं, केवलज्ञान होने के पहले तीन अथवा चार ज्ञान होने का कोई नियम नहीं है, मात्र अल्प मति-श्रुतज्ञान होने पर भी इन दोनों ज्ञान के (मुख्यता श्रुतज्ञान के) अभावपूर्वक पूर्णज्ञान अर्थात् केवलज्ञान होता है।

५१. प्रश्न हूँ जिन्हें केवलज्ञान होता है, उन्हें नियम से अपूर्वकरण गुणस्थान में प्रारम्भ से ही शुक्लध्यान होता ही है, वे मुनिराज द्वादशांग श्रुतज्ञान के धारक भी बन ही जाते हैं। अतः ज्ञान की केवलज्ञानरूप

पूर्णज्ञान की पर्याय प्रगट होने का क्रम निश्चित ही है; ऐसा अर्थ स्पष्ट होता है। 'शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः' हूँ यह तत्त्वार्थसूत्र के ९वें अध्याय का ३७वाँ सूत्र शास्त्राधार है।

आप सम्यग्ज्ञान के पूर्णरूप केवलज्ञान पर्याय प्रगट होने का क्रम निश्चित नहीं है हूँ ऐसा कहते हो। आपका यह कहना हमें आगम विरुद्ध प्रतीत होता है, आप खुलासा करें।

उत्तर : श्रेणी के आठवें गुणस्थान में पूर्ण श्रुतज्ञान होता है, यह बात सही है; लेकिन जो-जो आठवें गुणस्थान में द्वादशांग के ज्ञाता होते हैं, वे-वे उसी भव से केवलज्ञानी होते ही हैं हूँ ऐसा नियम नहीं है; क्योंकि उपशम श्रेणी पर आरोहण करनेवाले मुनिराज को द्वादशांग श्रुत का ज्ञान तो हो ही जाता है; तथापि उन्हें उसी भव में केवलज्ञान होने का नियम नहीं है।

उपशांत मोही मुनिराज तो नियम से ११ वें गुणस्थान से नीचे गिरते ही हैं। न उसी भव में केवलज्ञान होने का नियम है, न थोड़े ही भव में केवलज्ञान होने का नियम है, इसलिए १२ अंग के ज्ञानी को होना, यह केवलज्ञानी होने का पक्का नियम नहीं है।

इतना ही नहीं, सर्वार्थसिद्धि के सर्व अहमिन्द्र देवों को १२ अंग का ज्ञान होता है, लौकान्तिक देव १२ अंग के धारक होते हैं, सौधर्म इन्द्र भी द्वादशांग का ज्ञाता होता है; उन सबको उसी देवगति से केवलज्ञान होने का प्रसंग प्राप्त हो जायेगा।

अतः पूर्ण श्रुतज्ञान होना हूँ यह केवलज्ञानी होने का नियम नहीं बन सकता।

एक तरफा व्याप्ति जरूर है, जैसे जिन्हें केवलज्ञान होना है, उन्हें पूर्ण श्रुतज्ञान प्राप्त होता ही है। इक तरफा व्याप्ति से नियम नहीं बन सकता। अन्वय और व्यतिरेक दोनों घटित होने पर ही नियम बन

सकता है, अन्यथा नहीं।

इसलिए ज्ञान गुण की केवलज्ञानरूप पूर्ण पर्याय प्रगट होने का क्रम निश्चित नहीं है ह्य यह विषय स्पष्ट समझ में आता है।

‘शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः’ इस सूत्र का भाव/मर्म स्पष्ट हो, एतदर्थ हम आगे अनेक शास्त्रों का आधार ही दे रहे हैं, जिससे शुक्लध्यान तथा श्रुतज्ञानी (द्वादशांगश्रुतज्ञान के ज्ञाता) दोनों का यथार्थ ज्ञान हो सके।

(१) आचार्यश्री पूज्यपाद विरचित सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ का शुक्लध्यान का विषय इसप्रकार है :ह्य

“८९१. तीन ध्यानों का कथन किया, इस समय चिन्तन करना धर्मध्यान है यह उक्त कथन का तात्पर्य है।

शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः ॥३७॥

आदि के दो शुक्लध्यान पूर्वविद के होते हैं ॥३७॥

८९२. आगे कहे जाने वाले शुक्लध्यान के भेदों में से आदि के दो शुक्लध्यान पूर्वविद अर्थात् श्रुतकेवली के होते हैं। सूत्र में ‘च’ शब्द आया है, उससे धर्मध्यान का समुच्चय होता है।

‘व्याख्यान से विशेष ज्ञान होता है’ इस नियम के अनुसार श्रेणी चढ़ने से पूर्व धर्मध्यान होता है और दोनों श्रेणियों में आदि के दो शुक्लध्यान होते हैं, ऐसा व्याख्यान करना चाहिए।”

(२) श्री सहजानन्दी वर्णीकृत मोक्षशास्त्र प्रवचन (अध्याय नौ) का शुक्लध्यान का विभाग इसप्रकार है :ह्य

शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः ॥९-३७॥

“आदि के दो शुक्लध्यानों के स्वामी का निर्देश ह्य आदि के दो शुक्लध्यान पूर्वविद के अर्थात् श्रुतकेवली के होते हैं। यह शुक्लध्यान श्रुतकेवली के है।

इस कथन से यद्यपि एक प्रसंग में विरोध आता है, जहाँ यह कहा गया कि अष्ट प्रवचन मात्रिका का ज्ञान हो जिस मुनि के अर्थात् विशेष

ज्ञान नहीं है। पर प्रायोजनिक ज्ञान है थोड़ा, तो वे मुनि भी मोक्ष जा सकते हैं; किन्तु यहाँ कह रहे हैं कि शुरु-शुरु के दो शुक्लध्यान श्रुतकेवली के होते हैं तो फिर वे कैसे मोक्ष गए ?

इस विषय में यह जाहिर होता है कि जो मुनि श्रेणी मांडने से पहले श्रुतकेवली हैं, उनके विषय में तो यह प्रसिद्ध है कि वे श्रुतकेवली हैं और मोक्ष गए; पर जिन मुनियों के श्रेणियों से पहले श्रुतकेवलीपना नहीं है, थोड़ा ही ज्ञान है, आठ प्रवचनमाता का ही ज्ञान है तो वे भी श्रेणी माँडते हैं और श्रेणी में जो ध्यान बढ़ता है उसके प्रताप से श्रुतज्ञानावरणकर्म में शिथिलता और उसकी निर्जरा तो होती ही है, और उनके पूर्ण श्रुतज्ञान पैदा हो जाता है; पर वह समय बहुत थोड़ा है और उसके बाद उनके कोई व्यवहार भी नहीं होता है। श्रेणी की, समाधि की, और केवलज्ञान हो जायेगा; इसलिए यह जाहिर नहीं हो पाता कि उनके भी पूर्ण श्रुत ज्ञान हो जाया करता है।

इसप्रकार श्रुतकेवली के आदि के आदिम दो शुक्लध्यान बताये गये हैं। इस सूत्र में च शब्द भी आया है, जिससे यह प्रकट होता है कि श्रुतकेवली के धर्मध्यान भी होता है, किन्तु यह धर्मध्यान श्रेणी से पहले है। श्रुतकेवलीपना तो पहले भी रहता है, पर श्रेणी में जो भव्य आत्मा है, उसके धर्मध्यान नहीं; किन्तु शुक्लध्यान ही है।”

(३) आचार्यश्री उमास्वामी विरचित तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ का पंडितश्री फूलचंदजी सिद्धान्तशास्त्री कृत टीका का शुक्लध्यान का निरूपण इसप्रकार है :ह्य

शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः ॥३७॥

- “आदि के दो शुक्लध्यान पूर्वविद के होते हैं।
- बाद के दो शुक्लध्यान केवली के होते हैं।

पात्रता की दृष्टि से विचार करते हुए बतलाया है कि जो पूर्वधर हों

उनके प्रारम्भ के दो शुक्लध्यान होते हैं और केवली के अन्त के दो शुक्लध्यान होते हैं। यहाँ पूर्वधर के आदि के दो शुक्लध्यान होते हैं – ऐसा कथन करने से सभी पूर्वधरों के शुक्लध्यान प्राप्त हुआ; किन्तु बात ऐसी नहीं है, क्योंकि श्रेणी पर आरोहण करने के पूर्व धर्म्यध्यान होता है और श्रेणी में शुक्लध्यान होता है।

इसलिये यहाँ ऐसे ही पूर्वधर लेने चाहिये जो उपशम श्रेणी या क्षपक श्रेणी में स्थित हों।

इसमें भी शुक्लध्यान का पहला भेद उपशम श्रेणी के सब गुणस्थानों में और क्षपक श्रेणी के दसवें गुणस्थान तक होता है। तथा दूसरा भेद बारहवें गुणस्थान में होता है। इसीप्रकार शुक्लध्यान का तीसरा भेद सयोगकेवली के और चौथा भेद अयोगकेवली के होता है।”

(४) आचार्यश्री उमास्वामी विरचित श्री रामजीभाई दोशी कृत टीका का तत्त्वार्थसूत्र ग्रन्थ का शुक्लध्यान का विषय इसप्रकार है :ह
“शुक्लध्यान के स्वामी बताते हैं ह

शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः ॥३७॥

अर्थ ह पहले दो प्रकार के शुक्लध्यान अर्थात् पृथक्त्ववितर्क और एकत्ववितर्क ये दो ध्यान भी पूर्वज्ञानधारी श्रुतकेवली के होते हैं।

नोट ह इस सूत्र में च शब्द है, वह यह बतलाता है कि श्रुतकेवली के धर्मध्यान भी होता है।

टीका ह शुक्लध्यान के ४ भेद ३९ वें सूत्र में कहेंगे। शुक्लध्यान का प्रथम भेद आठवें गुणस्थान के प्रारम्भ में होकर क्षपक के-दसवें और उपशमक के ११ वें गुणस्थान तक रहता है। उनके निमित्त से मोहनीयकर्म का क्षय या उपशम होता है।

दूसरा भेद बारहवें गुणस्थान में होता है, उसके निमित्त से बाकी के घातिकर्म- अर्थात् ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतरायकर्म का क्षय

होता है। ग्यारहवें गुणस्थान में पहला भेद ही होता है।

२ ह इस सूत्र में पूर्वधारी श्रुतकेवली के शुक्लध्यान होना बताया है सो उत्सर्ग कथन है, इसमें अपवाद कथन का गौणरूप से समावेश हो जाता है।”

अब केवलज्ञान प्रगट होने के पहले नियम से श्रुतज्ञान ही रहता है; इसके लिए तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक भाग-१, पृष्ठ १८५ का हम आगे आधार दे रहे हैं :ह

“विशेष बात यह है कि क्षपकश्रेणी में भले ही किन्हीं मुनिराज के सर्वावधि या मनःपर्ययज्ञान हो चुका हो; किन्तु उनके उपयोगात्मक श्रुतज्ञान ही है। श्रुतज्ञान का पिंड शुक्लध्यान है। इसमें मति, अवधि, मनःपर्यय का रंचमात्र प्रकाश नहीं है। अतः बारहवें गुणस्थान में पूर्ण श्रुतज्ञान है, उस परोक्षरूप पूर्णज्ञान से ही परिपूर्ण केवलज्ञान हुआ है।”

५२. प्रश्न ह बारह अंग का ज्ञान होने पर भी जीव को केवलज्ञान नहीं होता, कदाचित कुछ काल पर्यंत सही उन्हें भी संसार में भटकने का कष्टप्रद कार्य अनिवार्य हो जाता है यह जानकर हमें खेद/दुःख होता है, ऐसा नहीं होना चाहिए। ऐसा क्यों होता है ?

उत्तर : वस्तु-व्यवस्था का स्वीकार न करनेवाले को दुःख ही तो होगा। दुःख दूर करने का उपाय तो वस्तु-व्यवस्था का यथार्थ स्वीकार करना ही है, अन्य उपाय नहीं है।

द्वादशांग का ज्ञान होना, यह कार्य मुक्तिमार्ग/मोक्षमार्ग में होना, यह विषय अलग है और मोक्षमार्ग पूर्ण होना ह यह कार्य अलग है।

मोक्षमार्ग पूर्ण होने के लिए चारित्र की पूर्णता होना अर्थात् पूर्ण वीतरागता होना आवश्यक है ह यह वीतरागता भी क्षायिक भावरूप आवश्यक है, औपशमिकभावरूप वीतरागता से काम नहीं होता। ग्यारहवें गुणस्थान में औपशमिक वीतरागता तो प्रगट हो जाती है; तथापि अपेक्षित केवलज्ञान एवं मोक्षावस्था का कार्य नहीं होता।

५३. प्रश्न हूँ इसका अर्थ द्वादशांग के ज्ञान से मोक्षरूप कार्य नहीं होता और क्षायिक चारित्र से ही मोक्षरूप यह कार्य होता है, क्या ऐसा मानना आवश्यक है ?

उत्तर : हाँ, क्षायिक चारित्र से ही कार्य होता है, मात्र द्वादशांग ज्ञान से नहीं। इस कारण ही मोक्षमार्ग का कथन करने वाले सूत्र में चारित्र को आचार्य श्री उमास्वामी ने अंत में दिया है।^१

जिसे क्षायिक चारित्र होना होता है, उसे द्वादशांग का ज्ञान होता है; लेकिन जिसे द्वादशांग का ज्ञान होता है, उसे क्षायिक चारित्र होने का नियम नहीं है। आचार्य कुन्दकुन्द ने भी 'चारित्तं खलु धम्मो?' (चारित्र ही वास्तविक धर्म है) हूँ ऐसा कहा है।

५४. प्रश्न हूँ फिर ज्ञान का मोक्षमार्ग में क्या उपयोग ?

उत्तर : जीवन में मोक्षमार्ग प्रगट/व्यक्त करने में मुख्यता तो ज्ञान गुण का ही कार्य विशेष-विशेष उपयोगी है; वह संक्षेप में इसप्रकार है हूँ

१. श्रद्धा को सम्यक् बनाने में प्रमुख एवं विशेष सहायक ज्ञान ही है।
२. चारित्र में सम्यक्पना लाने के लिए ज्ञान ही सहायक है।
३. ज्ञान तो जीव का प्राण/सर्वस्व/लक्षण है। ज्ञान के बिना जीव ही नहीं है।
४. ज्ञान की स्थिरता को ही चारित्र कहते हैं।
५. ज्ञान के माध्यम से ही ध्यान/चारित्र की प्रेरणा दी जाती है, दी जानी चाहिए।
६. ज्ञान तथा आनन्द का अविनाभावी संबंध है; अतः आनन्द की प्राप्ति के लिए ज्ञान (ज्ञानस्वभावी आत्मा) की उपासना अनिवार्य है।
७. यथार्थ ज्ञान/स्व-सन्मुख ज्ञान ही मोक्षमार्ग में उपयोगी है।
८. स्व को स्वरूप से पर को पररूप से जानता हुआ ज्ञान ही यथार्थ ज्ञान है।
९. बिना ज्ञान जीव की पहिचान नहीं होती; इसलिए जीव को

१. तत्त्वार्थसूत्र अध्याय १, सूत्र १

२. प्रवचनसार गाथा ७

पहिचानना/जानना चाहिए। जीव को जानने से धर्म होता है।

तथापि चारित्र की पूर्णता के लिए ज्ञान अपनी ओर से स्वतंत्र कुछ कार्य नहीं कर सकता; क्योंकि ज्ञान और चारित्र इन दोनों गुणों में आपस में अतद्भाव है। दोनों का कार्य-क्षेत्र भिन्न-भिन्न है।

तथापि भेद की अपेक्षा से सोचा जाय तो ज्ञान जानने का काम करता है, चारित्र स्थिरता का अर्थात् प्रचुर रूप से स्वरूप में मग्न रहने का काम करता है। मग्नता, लीनता हूँ यह कार्य चारित्र का है।

हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि द्वादशांगरूप ज्ञान का विकास भी तो चारित्र से ही होता है। किसी को भी अध्ययन करके १२ अंग का ज्ञान नहीं होता।

जब मुनिराज वीतरागता को विशेषरूप से बढ़ाने का कार्य आरम्भ करते हैं; तब अल्पज्ञानी शिवभूति जैसे मुनिराज को भी स्वयमेव ही बारह अंग का ज्ञान अपूर्वकरण गुणस्थान में हुआ ही था।

५५. प्रश्न हूँ देवों को द्वादशांग का ज्ञान कैसे होता है ?

उत्तर : देवों में सर्वार्थसिद्धि के अहमिंद्रों को द्वादशांग का ज्ञान होता है, वे तो पूर्वजन्म में नियम से भावलिंगी संत थे, उस जीवन में चारित्र की विशेष विशुद्धि से ज्ञानावरण का क्षयोपशम विशेष हो जाता है। उसका लाभ उन्हें सवार्थसिद्धि की अवस्था में मिलता है।

सौधर्म इन्द्र तथा लौकान्तिक देवों के विषय में भी पूर्व जन्म का ही कारण समझना आवश्यक है।

५६. प्रश्न हूँ मात्र शाकाहारी समाज में ही नहीं, मांसाहार करने वाले लोग, जो विशेष खोजी होते हैं, उनको तो हम सप्त व्यसन में रात-दिन डूबे हुए देखते हैं और आप समझा रहे हो कि चारित्र (वीतरागता) से ज्ञान बढ़ता है। ऐसी विषम अवस्था में हमें क्या समझना चाहिए ?

उत्तर : पहले तो हमें यह स्वीकारना आवश्यक है कि वर्तमान जीवन ही जीवन नहीं है। महा दीर्घ भूतकाल में (अनंतकाल पूर्व) भी अर्थात्

अनादिकाल से ही हमारा-आपका, सभी का जीवन था, है और रहेगा।

भूतकालीन जीवन में अनेक प्रकार के पाप-पुण्यमय कार्य जीव ने किए हैं। उस कारण से ज्ञानावरणादि कर्मों का बन्ध भी हुआ है।

दूसरा विषय यह भी है कि चारित्र का अर्थ सर्वत्र वीतरागता ही समझना चाहिए; यह विषय जिनधर्म के विषय में है। ज्ञानावरण कर्म की हानि (क्षय) के लिए वीतरागता की आवश्यकता का कथन करना, यह मोक्षमार्ग के लिए जरूरी है।

सामान्यरूप से देखा जाय तो कषाय की मंदता से भी ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होता ही है।

जिनधर्म का स्वीकार जिन्हें नहीं है, ऐसे अनेक जीव (मनुष्य-तिर्यच) मंदकषायी तो होते ही हैं। उनको ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम विशेष होता है अर्थात् देशघाति स्पर्धक अति-अति मंद अनुभागवाले जब उदय में आते रहते हैं तो ज्ञान का चमत्कारिक विशेष विकास होता है। इस कारण अनेक बुद्धिमान लोग अनेक प्रकार की खोज करते हैं, इससे हमें भ्रमित नहीं होना चाहिए।

वर्तमान काल में सप्तव्यसनादि का पाप जो जीव करता है, उसका फल तो उन्हें भविष्य में मिलेगा, जिस कारण से मात्र नरक ही नहीं निगोद में भी जाना अनिवार्य हो जायेगा।

ज्ञानावरणादि कर्मों के क्षय के लिए तो वीतरागता ही अनिवार्य है और बाह्य में दिगंबर मुनि अवस्था का निमित्तरूप से भी स्वीकारना जरूरी है। इस सन्दर्भ में पीत, पद्म, शुक्ल लेश्या से धर्म नहीं होता। धर्म तो वीतरागतारूप शुद्ध परिणाम से ही होता है ह्व इस महत्त्वपूर्ण विषय को भी शास्त्र के आधार से समझने का प्रयास करना चाहिए।

५७. प्रश्न ह्व मंद कषाय से ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होता है, ज्ञान विकसित होता है ह्व यह आप कुछ शास्त्र के आधार से कहोगे तो

विषय स्पष्ट होगा।

उत्तर ह्व वैसे तत्त्वार्थसूत्र के नौवें अध्याय के ३७ वें सूत्र से पूर्ण वीतरागता के प्रयास के काल में अर्थात् साक्षात् भगवान बनने के पुरुषार्थ (शुक्लध्यान) के कारण एवं मंद कषाय से भी बारह अंग के श्रुतज्ञान प्रगट होने की बात हम लिख आये हैं। आपके समाधान के लिए आपको अपेक्षित शब्दों में ही आगे मोक्षमार्गप्रकाशक शास्त्र का पृष्ठ २५७ का आधार दे रहे हैं ह्व

“कोई मंद कषायादि का निमित्त पाकर ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षयोपशम हुआ, जिससे तत्त्वविचार करने की शक्ति हुई; तथा मोह मंद हुआ, जिससे तत्त्वविचार में उद्यम हुआ.....”

५८. प्रश्न ह्व पूर्ण श्रुतज्ञानी अर्थात् ११ अंग और १४ पूर्वधारी मुनिराज उसी भव से मुक्ति प्राप्त करते ही हैं; ऐसा नियम है क्या?

उत्तर ह्व नहीं, पूर्ण श्रुतज्ञानी मुनिराज उसी भव से मुक्ति प्राप्त करते ही हैं ह्व ऐसा नियम नहीं है। सामान्य रूप से पूर्ण श्रुतज्ञानी मुनिराज के दो भेद होते हैं ह्व

पहला भेद ह्व छठवें-सातवें गुणस्थानों में झूलने वाले भावलिङ्गी संत अपने मनुष्य जीवन में मुनि जीवन का प्रचुर आनंद लेते हुए मनुष्य जीवन पूर्ण करते हैं और अंत में वैमानिक देव हो जाते हैं। और कुछ ही भवों के बाद मनुष्य भव पाकर मुक्ति प्राप्त करते हैं।

दूसरा भेद ह्व अल्प श्रुतज्ञानी भावलिङ्गी संत परिणामों की विशेष उज्ज्वलता के कारण उपशम श्रेणी का आरोहण करते हैं। उस समय विशेष पुरुषार्थ अर्थात् वीतरागता की वृद्धि के कारण उपशम श्रेणी के आठवें गुणस्थान के प्रथम समय में ही ११ अंगों के ज्ञान के साथ ही साथ ९, १० अथवा १४ पूर्वों के ज्ञाता भी सहज बन जाते हैं। ग्यारहवें

गुणस्थान में औपशमिक यथाख्यात चारित्रधारी हो जाते हैं।

वहाँ से कालक्षय से ग्यारहवें गुणस्थान से निम्न गुणस्थानों में पतित हो जाते हैं। कदाचित् उसी भव से क्षपक श्रेणी मांडकर केवली होकर मुक्त भी हो जाते हैं। यदि क्षपक श्रेणी पर आरोहण करने का अपूर्व कार्य नहीं हो पायेगा तो विजयादि पंच-पंचोत्तर में वैमानिक देव होकर अगले मनुष्य भव से मुक्ति प्राप्त करते हैं।

९, १० अथवा १४ पूर्वधरों में इतना भेद जानना कि १४ पूर्वधारी मुनिराज भावी जीवन में मिथ्यात्व गुणस्थान को प्राप्त नहीं करेंगे, यह तो नियम समझ लेना चाहिए।

५९. प्रश्न ह्व आपके उक्त कथन के लिए आप किसी शास्त्र का आधार भी दे सकते हो क्या? शास्त्राधार के बिना इस विषय को हम कैसे मानें?

उत्तर ह्व जरूर, जरूर शास्त्र का आधार दे रहे हैं ह्व धवला पुस्तक नौ का पृष्ठ नंबर ७१ के निम्न शब्दों से आपको निर्णय पक्का हो जायेगा ह्व वे शब्द इसप्रकार हैं ह्व

“चौदह पूर्व का धारक मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं होता और उस भव में असंयम को भी नहीं प्राप्त होता, यह इसकी विशेषता है।”

इस उद्धरण से १४ पूर्वधारी उसी भव से मोक्ष जाते ही हैं, ऐसा नियम नहीं है, यह विषय स्पष्ट हो गया और अन्य विषयों का भी खुलासा हो गया।

६०. प्रश्न ह्व ११ अंग तथा ९ अथवा १० पूर्वधारी उसी भव से मोक्ष जा सकते हैं क्या?

उत्तर ह्व हाँ, ११ अंग तथा ९ अथवा १० पूर्वधारी उसी भव से मोक्ष भी जा सकते हैं। श्रुतज्ञान का विशिष्ट विकास हो तो ही मोक्ष जा सकते हैं, अन्यथा नहीं, ऐसा कथंचित् नियम तो है।

वह नियम ऐसा ह्व जैसे शिवभूति मुनिराज छठवें-सातवें गुणस्थान में अति-अति अल्प मति-श्रुतज्ञानी तो थे; तथापि आठवें गुणस्थान में प्रवेश करते ही उन्हें शुक्लध्यान के काल में विशिष्ट वीतरागता और पूर्ण वीतरागता के लिए किए जानेवाले पुरुषार्थ से ११ अंग का तो परिपूर्ण ज्ञान हुआ है और उसी समय ९, १० अथवा १४ पूर्व का श्रुतज्ञान भी हुआ एवं वे केवलज्ञान प्राप्त कर सिद्ध भगवान हो गये हैं।

इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ११ अंग तथा ९ अथवा १० पूर्वधारी भी मोक्ष जा सकते हैं।

६१. प्रश्न ह्व औपशमिक यथाख्यात चारित्र को धारण करनेवाले विशिष्ट श्रुतकेवली ग्यारहवें गुणस्थान से कालक्षय के कारण छठवें-सातवें गुणस्थान को प्राप्त होने के बाद भी श्रुतकेवली रह सकते हैं क्या?

उत्तर ह्व हाँ, छठवें-सातवें गुणस्थान को प्राप्त होने पर भी वे मुनिराज श्रुतकेवली रह सकते हैं।

६२. प्रश्न ह्व कैसे? क्या कुछ तर्क या शास्त्राधार है?

उत्तर ह्व शंका होना स्वाभाविक है। अपने सामान्य मुनिजीवन में तो श्रुतकेवली नहीं थे। अति अल्प मति-श्रुतज्ञानी थे।

उपशम श्रेणी चढ़ते हुए परिणामों की विशुद्धता के कारण सत्ता में पड़े हुए ज्ञानावरण कर्म को विशिष्ट क्षयोपशम के निमित्त से श्रुतकेवली हो गये थे।

अब उपशम श्रेणी से नीचे गिर गये हैं। सामान्य मुनिजीवन में आ गये हैं। अतः विशिष्ट श्रुतकेवलीपना कैसे रहेगा? ऐसी शंका होना स्वाभाविक है।

हमने तो श्रेणी से पतित होने पर भी छठवें-सातवें गुणस्थान में विशिष्ट श्रुतकेवली (११ अंग तथा ९, १० अथवा १४ पूर्वधारी श्रुतकेवली) रह सकते हैं, ऐसा उत्तर दिया है, उसके लिए हमारे पास बलवान तर्क है।

६३. प्रश्न :ह्र पहले हम यह निर्णय करें कि श्रुतकेवली होने के लिए क्या श्रेणी चढ़ना अनिवार्य है अथवा श्रेणी का आरोहण किए बिना भी सामान्य मुनिजीवन में श्रुतकेवलीपना प्राप्त हो सकता है?

उत्तर ह्र इसका उत्तर यह है कि श्रेणी आरोहण किए बिना ही अनेक मुनिराज श्रुतकेवली हो गये हैं ह्र जैसे इस पंचम काल में श्रीविष्णु, श्रीनंदिमित्र, श्री अपराजित, श्री गोवर्धन एवं श्री भद्रबाहु श्रुतकेवली हो गये हैं।

इसका अर्थ यह हो गया कि छठवें-सातवें गुणस्थान के परिणामों के साथ श्रुतकेवलीपना रह सकता है।

अर्थात् संज्वलन कषाय का यथायोग्य तीव्र-मंद उदय के साथ होनेवाले परिणाम श्रुत केवलीपनेरूप ज्ञान में बाधक नहीं है। इसलिए उपशम श्रेणी से पतित एवं छठवें-सातवें गुणस्थान को प्राप्त मुनिराज भी श्रुतकेवली रह सकते हैं।

यहाँ यह निर्णय करना आवश्यक है कि यदि मुनिराज छठवें गुणस्थान से भी नीचे पतित हो जायेंगे तो श्रुतकेवली नहीं रह पायेंगे।

श्रुतकेवलीपने का संबंध मुनिजीवन के साथ है।

श्रेणी हो तो श्रुतकेवलीपना होता है, यह बात सत्य होने पर भी श्रुतकेवली होने के लिए श्रेणी चढ़ना अनिवार्य नहीं है।

श्रावक अवस्था में श्रुतकेवलीपना नहीं रहता; यह भी नियम समझना आवश्यक है।

जैसे ह्र शिवभूति आदि अनेक मुनिराज अत्यल्प मति-श्रुत-ज्ञान होने पर भी श्रुतकेवली बन गये हैं। श्रुत ज्ञान का उपयोग जीवन में करना/ होना आवश्यक नहीं है। पूर्ण श्रुतज्ञान प्राप्त होने के बाद यथासमय शिवभूति मुनिराज केवलज्ञानी भी हो गये हैं।

● केवलज्ञान की उत्पत्ति के लिए पूर्ण वीतराग होना अनिवार्य है; लेकिन अवधि-मनःपर्ययज्ञान की अनिवार्यता मोक्षमार्ग में नहीं है और उनकी उपयोगिता भी नहीं है; क्योंकि ये दोनों ज्ञान मात्र पुद्गल को ही जानते हैं।

ज्ञान गुण के परिणामन का अपना कार्य स्वतंत्र है; परन्तु उसके पूर्ण विकास के लिए पूर्ण वीतरागता चाहिए ह्र यह भी व्यवहार सापेक्ष कथन है।

६४. प्रश्न ह्र केवलज्ञान के लिए वीतरागता चाहिए ह्र यह कथन व्यवहार सापेक्ष ही क्यों है ?

उत्तर ह्र यदि पूर्ण वीतरागता को कारण और केवलज्ञान को कार्य ह्र ऐसा दो गुणों के दोनों पर्यायों में कारण-कार्य सम्बन्ध मान लिया जाय तो बारहवें गुणस्थान के प्रथम समय में ही पूर्ण वीतरागता होती है, तदनुसार उसीसमय केवलज्ञान की उत्पत्ति होनी ही चाहिए; किन्तु ऐसा नियम से नहीं होता।

इसके विशेष स्पष्टीकरण के लिए पंचास्तिकाय गाथा १५० एवं १५१ को टीका सहित हम यहाँ दे रहे हैं ह्र

“हेदुमभावे णियमा जायदि णाणिस्स आसवणिरोधो।

आसवभावेण विणा जायदि कम्मस्स दु णिरोधो॥

कम्मस्साभावेण य सव्वण्हू सव्वलोगदरिसी य।

पावदि इंदियरहिदं अव्वाबाहं सुहमणंतं॥

टीका ह्र यह, द्रव्यकर्ममोक्ष^१ के हेतुभूत परम-संवररूप से भावमोक्ष के स्वरूप का कथन है।

आस्रव का हेतु वास्तव में जीव का मोहरागद्वेषरूप भाव है। ज्ञानी को उसका अभाव होता है। उसका अभाव होने से आस्रवभाव का अभाव होता है। आस्रवभाव का अभाव होने से कर्म का अभाव होता है।

कर्म का अभाव होने से सर्वज्ञता, सर्वदर्शिता और अव्याबाध, इन्द्रियव्यापारातीत^२, अनन्त सुख होता है। सो यह जीवन्मुक्ति^३ नाम का भावमोक्ष है। ‘किसप्रकार?’ ऐसा प्रश्न किया जाए तो निम्नानुसार स्पष्टीकरण है :ह्र

१. द्रव्यकर्ममोक्ष = द्रव्यकर्म का सर्वथा छूट जाना; द्रव्यमोक्ष। (यहाँ भावमोक्ष का स्वरूप द्रव्यमोक्ष के निमित्तभूत परम संवररूप से दर्शाया है।)

२. इन्द्रियव्यापारातीत = इन्द्रियव्यापार रहित।

३. जीवन्मुक्ति = जीवित रहते हुए मुक्ति; देह होने पर भी मुक्ति।

४. विवक्षित = जिसका कथन करना है।

यहाँ जो 'भाव' विवक्षित^१ है वह कर्मावृत्त (कर्म से आवृत्त हुए) चैतन्य की क्रमानुसार प्रवर्तती ज्ञप्तिक्रियारूप है। वह (क्रमानुसार प्रवर्तती ज्ञप्तिक्रियारूप भाव) वास्तव में संसारी को अनादि काल से मोहनीयकर्म के उदय का अनुसरण करती हुई परिणति के कारण अशुद्ध है, द्रव्यकर्मास्रव का हेतु है। परन्तु वह (क्रमानुसार प्रवर्तती ज्ञप्तिक्रियारूप भाव) ज्ञानी को मोहरागद्वेषवाली परिणतिरूप से हानि को प्राप्त होता है; इसलिए उसे आस्रवभाव का निरोध होता है।

इसलिए जिसे आस्रवभाव का निरोध हुआ है, ऐसे उस ज्ञानी को मोहक्षय द्वारा अत्यन्त निर्विकारपना होने से, जिसे अनादि काल से अनन्त चैतन्य और (अनन्त) वीर्य मुँद गया है।

ऐसा वह ज्ञानी (क्षीणमोह गुणस्थान में) शुद्ध ज्ञप्तिक्रियारूप से अंतर्मुहूर्त व्यतीत करके युगपत् ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय का क्षय होने से कथंचित् कूटस्थ^२ ज्ञान को प्राप्त करता है।

इसप्रकार उसे ज्ञप्तिक्रिया के रूप में क्रमप्रवृत्ति का अभाव होने से भावकर्म का विनाश होता है। इसलिए कर्म का अभाव होने पर वह वास्तव में भगवान सर्वज्ञ, सर्वदर्शी तथा इन्द्रियव्यापारातीत-अव्याबाध-अनंतसुखवाला सदैव रहता है।

इसप्रकार यह (जो यहाँ कहा है), भावकर्ममोक्ष^३ का प्रकार^४ तथा द्रव्यकर्ममोक्ष का हेतुभूत परम संवर का प्रकार है।^४

● अनेक बार चारों ज्ञान होने पर भी अर्थात् ज्ञान गुण के सम्यक्

१. कूटस्थ = सर्व काल एकरूप रहनेवाला; अचल। (ज्ञानावरणादि घातिकर्मों का नाश होने पर ज्ञान कहीं सर्वथा अपरिणामी नहीं हो जाता; परन्तु वह अन्य-अन्य ज्ञेयों को जाननेरूप परिवर्तित नहीं होता ह्व सर्वदा तीनों काल के समस्त ज्ञेयों को जानता रहता है, इसलिए उसे कथंचित् कूटस्थ कहा है।)

२. भावकर्ममोक्ष = भावकर्म का सर्वथा छूट जाना, भावमोक्ष। ज्ञप्तिक्रिया में क्रमप्रवृत्ति का अभाव होना वह भावमोक्ष है अथवा सर्वज्ञ-सर्वदर्शीपने की और अनन्तानन्दमयपने की प्रगटता वह भावमोक्ष है।

३. प्रकार = स्वरूप। रीति।

४. पंचास्तिकाय संग्रह पृष्ठ-२१७ से २१९

परिणमन का इतना विकास होने पर भी जीव को केवलज्ञान की उत्पत्ति के लिए यह विकास अनुपयोगी सिद्ध होता है; क्योंकि वीतरागता ही मोक्षमार्ग है एवं मुक्ति का साक्षात् साधन है।

● हाँ, यह बात सत्य है कि यदि किसी जीव के विपुलमति मनःपर्ययज्ञान हो तो उस जीव को उसी भव से केवलज्ञान उत्पन्न होता ही है।

६५. प्रश्न ह्व विपुलमति मनःपर्ययज्ञान अप्रतिपाति है; अतः वह केवलज्ञान का कारण है ह्व क्या यह कथन सत्य है ?

उत्तर ह्व यह कथन व्यवहारनय की अपेक्षा से सत्य है, निश्चयनय की अपेक्षा से नहीं; क्योंकि कोई भी पर्याय किसी भी पर्याय का कारण नहीं हो सकती।

वास्तविक रूप से विचार किया जाय तो एक समयवर्ती कोई भी अनन्तरपूर्व-समयवर्ती पर्याय अन्य उत्तरक्षणवर्ती पर्याय को उत्पन्न नहीं कर सकती। जो पर्याय स्वयं नष्ट हो रही हो; मर रही हो; वह दूसरों को कैसे उत्पन्न कर सकती है ? निश्चित ही उत्पन्न नहीं कर सकती।

केवलज्ञानरूप पर्याय तो ज्ञान का घनपिण्ड जीवद्रव्य में से अथवा ज्ञानगुण में से उत्पन्न होती है। जैसा वस्तु का सही स्वरूप है, उसे वैसा ही जानना चाहिए।

आचार्यश्री नेमिचंद्र ने गोम्मटसार (जीवकाण्ड) गाथा ६९ में केवलज्ञान को असहाय विशेषण से स्पष्ट किया है; यह भी हमें समझना आवश्यक है।

वास्तविकरूप से सोचा जाय तो क्षायिक अर्थात् पूर्ण निर्मल/सर्वथा शुद्ध ऐसी श्रद्धा की सम्यक् पर्याय भी ज्ञान अथवा चारित्र को क्षायिक करने में असमर्थ है।

६६. प्रश्न ह्व यह कैसे ?

उत्तर ह्व गुणस्थान के अनुसार देखा जाय तो चौथे गुणस्थान में ही क्षायिक सम्यक्त्व हो सकता है। जैसे ह्व श्रेणिक राजा को गृहस्थ जीवन

में ही क्षायिक सम्यक्त्व हो गया था।

- यदि क्षायिक सम्यक्त्वरूप पर्याय, ज्ञान को क्षायिक बना सके तो चौथे गुणस्थान में ही केवलज्ञान होना चाहिए; किन्तु केवलज्ञान तो तेरहवें गुणस्थान में ही होता है, यह बात आगम के अभ्यासी अच्छी तरह से जानते हैं।
- यदि क्षायिक सम्यक्त्व ही चारित्र को क्षायिक बनाने में समर्थ हो तो बारहवें गुणस्थान में होनेवाला क्षायिक चारित्र चौथे गुणस्थान में होना आवश्यक होगा; लेकिन ऐसा होता नहीं है।
प्रथमानुयोग के शास्त्रों में हम यह भी पढ़ते हैं कि ह
- श्रेणिक राजा को क्षायिक सम्यक्त्व था, तथापि उसे देशसंयम भी नहीं था, तब क्षायिक चारित्र की बात कैसे करें ?
- श्रेणिक राजा का ज्ञान भी मति-श्रुतरूप अल्प ही था।

उपर्युक्त कथन से प्रत्येक पाठक को यह सहज और स्पष्ट समझना चाहिए कि एक गुण की सम्यक् पर्याय अन्य गुण की पर्याय में कुछ भी करने के लिए समर्थ नहीं है।

जहाँ एक जीव द्रव्य में रहनेवाली श्रद्धा गुण की क्षायिक सम्यक्त्वरूप पर्याय, उसी जीव द्रव्य के ज्ञान एवं चारित्र गुण की पर्याय में कुछ भी करने के लिए समर्थ नहीं है, वहाँ कोई मनुष्य-देश, समाज, संस्था, घर, शरीर इत्यादि का अच्छा या बुरा कर सकता है क्या ? अर्थात् नहीं कर सकता। परन्तु मात्र अज्ञानवश कल्पना करता है। अतः सब का मात्र ज्ञाता रहना ही स्वभाव व पुरुषार्थ है।

६७. प्रश्न हूँ सम्यग्दर्शन से ही ज्ञान चारित्र में सम्यक्पना होता है हूँ ऐसा नियमरूप कथन शास्त्रों में सर्वत्र मिलता है। सभी विद्वान भी ऐसा ही कथन करते हैं; यह कथन आपको मान्य है या नहीं ?

उत्तर हूँ श्रद्धा सम्यक् होते ही सभी गुणों में सम्यक्पना आता है, ऐसा शास्त्र-कथन निमित्त-नैमित्तिक संबंध का ज्ञान कराने के लिए किया जाता है, तथापि सूक्ष्मता से विचार किया जाए तो यह व्यवहारनय

का उपचरित कथन है हूँ स्थूल कथन है, वास्तविक नहीं।

वास्तविक स्वरूप तो यह है कि ज्ञान गुण भी अपनी क्षणिक उपादानगत योग्यता से सम्यक् रूप परिणत होता है, और श्रद्धा गुण की पर्याय भी अपने ही कारण से उस समय सम्यक् रूप ही रहती है।

एक गुण या एक गुण की पर्याय, दूसरे गुण अथवा दूसरे गुण की पर्याय का कार्य करती है हूँ ऐसा वस्तुस्वरूप त्रिकाल में नहीं है।

दो पर्यायों में परस्पर एक-दूसरे के साथ अनुकूलता का जो ज्ञान होता है, उसे ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध कहते हैं। इसी को कालप्रत्यासत्ति भी कहते हैं।

दो द्रव्यों, दो गुणों एवं उन ही द्रव्य-गुणों की दो पर्यायों का एक ही काल होना, कालप्रत्यासत्ति (काल की नजदीकता अथवा उपस्थिति, दोनों पर्यायों का काल एक ही होना) कहलाती है।

यहाँ इस प्रकरण में दो द्रव्यों की बात नहीं है; अपितु एक ही जीव द्रव्य के श्रद्धा एवं ज्ञान गुण की पर्याय की बात है। दो गुणों की एक समय में होनेवाली दो पर्यायों की बात है।

यहाँ वैसे तो एक श्रद्धा गुण की सम्यक्त्वरूप पर्याय और उसी समय उसी जीव द्रव्य के अन्य अनन्त गुणों में होनेवाली पर्यायों की चर्चा अपेक्षित है।

श्रद्धा गुण की सम्यक्त्वरूप पर्याय होते ही उसीसमय ज्ञानादि अन्य गुणों का भी सम्यक् परिणामन अपने-अपने कारण से अर्थात् स्वतंत्ररूप से होता है। इसी कारण सम्यक्त्व के निमित्त से अन्य अनन्त गुणों की पर्याय में भी सम्यक्पना आ जाता है हूँ ऐसा व्यवहार से कथन होता है।

६८. प्रश्न हूँ जब श्रद्धा गुण की मिथ्यात्व पर्याय होती है, तब अन्य गुणों के मिथ्या पर्यायों में भी वह मिथ्यात्वपर्याय निमित्त होती है क्या ?

उत्तर हूँ हाँ, हाँ ! आपकी बात सही है, तथापि यहाँ प्रत्येक गुण का परिणामन अपने-अपने उपादान से होता है, इस विषय को भूलना

नहीं चाहिए।

- किसी भी पर्याय-कार्य में कारणरूप उपादान एवं निमित्त हूँ ये दोनों ही कारण अवश्य होते हैं, इसका स्मरण रखना जरूरी है।
- विवक्षित कार्य का उपादान तो मूलद्रव्य होता है, जो स्वयं परिणामन करता है और निमित्त तो उसे कहते हैं, जो करता तो कुछ नहीं; तथापि जिसके ऊपर अनुकूलता का आरोप आता है।
- निमित्त कार्य में अकिंचित्कर होता है, क्योंकि उपादान कार्य के लिए अनुरूप होता है और निमित्त अनुकूल होता है।
- कथन निमित्त की मुख्यता से होता है; तथापि कार्य तो उपादानरूप कारण से ही होता है।

प्रकरण के अनुसार अपना विषय तो सम्यग्ज्ञान की पूर्णता का चल रहा है। प्रसंग प्राप्त बीच में उपादान-निमित्त की बात आ गयी। अतः हमें फिर से मूल विषय (सम्यग्ज्ञान की पूर्णता) पर ही आना योग्य है।

ज्ञानशक्ति बढ़ती जाती है, इस विषय को लेकर आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी का चिन्तन इसप्रकार है हूँ

“शुद्धात्मा को उपादेय करके जैसे-जैसे स्वसन्मुखता वृद्धिगत होती जाती है, वैसे-वैसे पर भाव छूटते जाते हैं और ज्ञानशक्ति बढ़ती जाती है; तथा शुद्धता बढ़ने पर गुणस्थान भी बढ़ता है। ज्ञानी का जैसा-जैसा गुणस्थान बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे हेय-ज्ञेय-उपादेय शक्ति भी बढ़ती जाती है।

६१. प्रश्न हूँ ज्ञानी का जैसा-जैसा गुणस्थान बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे अशुद्धता छूटती जाती है और शुद्धता बढ़ती जाती है अर्थात् हेय और उपादेय शक्ति तो बढ़ती जाती है; परन्तु गुणस्थानानुसार ज्ञान भी बढ़ता है। यह किसप्रकार?

प्रश्न का खुलासा हूँ किसी को चतुर्थ गुणस्थान ही हो, तथापि अवधिज्ञान होता है; जबकि किसी को बारहवाँ गुणस्थान हो तो भी अवधिज्ञान न हो हूँ ऐसी दशा में गुणस्थान बढ़ने पर ज्ञान शक्ति भी बढ़ती है हूँ यह नियम तो नहीं रहा?

उत्तर हूँ यहाँ स्वज्ञेय को जानने की प्रधानता है, क्योंकि यहाँ मोक्षमार्ग

को साधने का प्रकरण है।

मोक्षमार्ग कहीं अवधिज्ञान से नहीं सधता, वह तो सम्यक् मति-श्रुतज्ञान द्वारा स्वज्ञेय को पकड़ने से सधता है और स्वज्ञेय को पकड़ने की ऐसी ज्ञानशक्ति तो गुणस्थान बढ़ने पर नियम से बढ़ती ही है।

चतुर्थ गुणस्थानवाले अवधिज्ञानी की अपेक्षा, अवधिज्ञानरहित बारहवें गुणस्थानवाले जीव के ज्ञान में स्वज्ञेय को ग्रहण करने की शक्ति विशेष बढ़ गई है।

स्वज्ञेय की तरफ ढलनेवाला ज्ञान ही मोक्षमार्गरूप प्रयोजन को साधता है।

गुणस्थान प्रमाण (अपनी योग्यता से) ज्ञानशक्ति बढ़ती जाती है (या वैसे की वैसे बनी रहती है); परन्तु एक गुणस्थान में बहुत से जीव हों तो सबका ज्ञान एक-सा नहीं होता और उन सबकी क्रिया भी समान नहीं होती। एक गुणस्थानवर्ती अनेक जीवों के ज्ञानादि में तारतम्यता होती है; किन्तु उनकी जाति विरुद्ध नहीं होती।

चतुर्थ गुणस्थान में असंख्य जीव हैं, उनका उदयभाव (औदयिकभाव) भिन्न है, फिर भी सभी ज्ञानियों के ज्ञान की जाति तो एक ही है।

सभी ज्ञानी जीवों का ज्ञान स्वाश्रय से ही मोक्षमार्ग जानता है; पराश्रय से मोक्षमार्ग माने हूँ ऐसा किसी ज्ञानी का ज्ञान नहीं होता।

एक गुणस्थान में सभी ज्ञानियों का औदयिक भाव तथा ज्ञान का क्षायोपशमिक भाव भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है, तथापि उस उदयभाव (औदयिकभाव) के आधार से ज्ञान नहीं है, ज्ञान तो स्वज्ञेयानुसार है।

स्व-ज्ञेय का ज्ञान सभी ज्ञानियों को होने का नियम है; परन्तु अमुक उदयभाव (औदयिक भाव) होना चाहिये अथवा अमुक बाहर का जानपना होना चाहिए हूँ ऐसा कोई नियम नहीं है; क्योंकि आत्मानुभव ही मोक्षमार्ग है, अन्य कोई मोक्षमार्ग नहीं।”^१

इस सम्बन्ध में पं. राजमलजी पाण्डे ने ‘समयसार कलश १३ की

१. परमार्थवचनिका प्रवचन, पृष्ठ-८१

टीका' में सरस बात लिखी है। वे कहते हैं :ह

“आत्मानुभव परद्रव्य की सहायता से रहित है, इसकारण अपने ही में अपने से आत्मा शुद्ध होता है..... जीववस्तु का जो प्रत्यक्षरूप से आस्वाद, उसको आत्मानुभव हूँ ऐसा कहा जाय अथवा ज्ञानानुभव हूँ ऐसा कहा जाय; दोनों में नामभेद है, वस्तुभेद नहीं है; अतः ऐसा जानना कि आत्मानुभव मोक्षमार्ग है।

इस प्रसंग में और भी संशय होता है कि कोई जानेगा कि द्वादशांग ज्ञान कोई अपूर्वलब्धि है।

उसके प्रति समाधान इसप्रकार है कि द्वादशांगज्ञान भी विकल्प है। उसमें भी ऐसा कहा है कि शुद्धात्मानुभूति मोक्षमार्ग है; इसलिये शुद्धानुभूति के होने पर शास्त्र पढ़ने की कुछ अटक नहीं है।”^१

“द्वादशांग भी ऐसा ही कहता है कि शुद्धात्मा में प्रवेश करके जो शुद्धात्मानुभूति हुई, वही मोक्षमार्ग है।

जहाँ शुद्धात्मानुभूति हुई, वहाँ फिर कोई नियम या टेक (आश्रय, अवलंब, सहारा) नहीं है कि इतने शास्त्र जानना ही चाहिए अथवा इतने शास्त्र जाने, तभी मोक्षमार्ग बने; विशेष शास्त्र ज्ञान हो या न हो, परन्तु जहाँ शुद्धात्मानुभूति हुई हूँ वहाँ मोक्षमार्ग ही गया।

उदयभाव से (औदयिक भाव) या बाहर के जानपने के आधार से गुणस्थान का माप^२ नहीं निकलता; किन्तु अन्दर की शुद्धता के आधार से या स्वसत्ता का अवलम्बन कैसा है हूँ उसके आधार से गुणस्थान का माप निकलता है।

चौथे गुणस्थान में असंख्यात जीव हैं; सामान्यपने तो सबको समान गुणस्थान है, दृष्टि भी सबकी समान है; किन्तु ज्ञान का क्षयोपशम सर्वप्रकार से समान नहीं होता। क्षायोपशमिकभाव तथा औदयिकभाव का ऐसा

१. समयसार कलश टीका-१३

२. माप हूँ वह जो मापता हो। वह माप जिसने कुछ मापा या नापा जाये। मानक। मानदंड। नाप।

स्वभाव है कि उसमें भिन्न-भिन्न जीवों के बीच में तारतम्यता होती है।

क्षायिकभाव में तारतम्यता नहीं होती, उसमें तो एक ही प्रकार होता है। लाखों केवली भगवान् तेरहवें गुणस्थान में विराजते हैं; उन सभी का क्षायिकभाव समान है, किन्तु औदयिकभाव में भिन्नता है।

चौथे गुणस्थान में स्थित असंख्यात जीवों में से औदयिकभाव में किसी के मनुष्यगति का उदय, किसी के नरकगति का उदय, किसी के हजार योजन की मोटी अवगाहना का उदय, किसी के एक हाथ जितनी छोटी अवगाहना। किसी के अल्पायु का उदय, किसी की असंख्यात वर्षों की आयु, किसी के असाता और किसी के साता का उदय हूँ इसप्रकार अनेक भाँति की विचित्रता होती है। इसीतरह ज्ञान में भी क्षयोपशम की विचित्रता अनेक प्रकार की होती है।

अभी साधक को ज्ञान अवस्था में बहुत कुछ परावलम्बन भी है, क्योंकि जब तक इन्द्रियज्ञान तथा रागादि हैं, तब तक परावलम्बन भी है; परन्तु उस परावलम्बन में ज्ञानी मोक्षमार्ग नहीं मानता।

किसी भी ज्ञानी का ज्ञान ऐसा नहीं होगा कि पराश्रय से मोक्षमार्ग माने। पराश्रितभाव से मोक्षमार्ग माने तो वह ज्ञान 'ज्ञान' नहीं, 'अज्ञान' है। ज्ञानी के ज्ञान में अमुक^१ परावलम्बीपना होने पर भी मिथ्यापना नहीं है, क्योंकि परावलम्बीपने को वह उपादेयरूप अथवा मोक्षमार्ग मानता नहीं। मोक्षमार्ग तो स्वाश्रित ही है।”^२

अध्यात्म संदेश में पृ. ३६ पर श्रीकानजी स्वामीजी का कथन दृष्टव्य है ह

“सम्यक् मति-श्रुत ने केवलज्ञान का अनुसंधान किया है।

कौन कह सकता है हूँ मति-श्रुतज्ञान केवलज्ञान का अंश है?

जिसने पूर्ण ज्ञानस्वभाव को प्रतीति में लेकर उस स्वभाव के आधार से सम्यक् अंश प्रगट किया हो, वही पूर्णता के साथ संधि करके (पूर्णता के लक्ष से) कह सकता है कि जो यह मेरा ज्ञान है, वह

केवलज्ञान का अंश है, केवलज्ञान का नमूना है।

जो राग में ही लीन रहता है, उसका ज्ञान तो राग का हो गया, उसको तो राग से भिन्न ज्ञानस्वभाव की खबर ही नहीं, तब 'यह ज्ञान इस स्वभाव का अंश है' हूँ ऐसा वह किसतरह जानेगा? जब वह अपने ज्ञान को पर से व राग से पृथक् ही नहीं जानता, तब उसको स्वभाव का अंश कहने का अवसर रहा ही कहाँ?

स्वभाव के साथ जो एकता करे, वही अपने ज्ञान को 'यह स्वभाव का अंश है' हूँ ऐसा जान सकता है, राग के साथ एकता वाला यह बात (रहस्य-मर्म) नहीं समझ सकता।^१

७०. प्रश्न हूँ सम्यक्ज्ञान जब केवलज्ञानरूप से परिणमित होता है, इसके पूर्व ज्ञानावरणादि घाति कर्म का निमित्तपना कैसा रहता है?

उत्तर : बारहवें गुणस्थान के प्रथम समय से ही मोहकर्म तथा मोहपरिणामों के सर्वथा अभाव से मुनिराज पूर्ण वीतरागी हो गये हैं।

अब मोहनीय कर्म के बिना मात्र तीन घाति कर्मों की सत्ता शेष है।

दर्शनावरण की नौ कर्म प्रकृतियों में से छह कर्म प्रकृतियाँ ही शेष हैं। उनमें से निद्रा और प्रचला - इन दो कर्म प्रकृतियों का बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान के उपान्त्य समय में क्षय हो जाता है।

क्षीणकषाय गुणस्थान के अंतिम समय में ज्ञानावरण कर्म की मतिज्ञानावरणादि ५ प्रकृतियाँ, दर्शनावरण कर्म की चक्षुदर्शनावरणादि ४ प्रकृतियाँ और अंतराय कर्म की ५ प्रकृतियाँ हूँ कुल मिलाकर १४ कर्मप्रकृतियों का क्षय हो जाता है।

इसतरह घाति कर्मों का क्षय पूर्ण हुआ।

सम्यग्ज्ञान की पूर्णता नामक इस प्रकरण में हमने संक्षेप में निम्नप्रकार जान लिया है।

१. सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति सम्यग्दर्शन के साथ चौथे गुणस्थान में ही होती है।

१. अध्यात्मसंदेश, पृष्ठ-३६

२. अथवा विवक्षावश पाँचवें एवं सातवें गुणस्थान में भी होती है।
३. सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति के समय मनुष्य-तिर्यच की अपेक्षा जीव के मति-श्रुत दो ही ज्ञान होते हैं।
४. देव अथवा नारकी की अपेक्षा से मति, श्रुत, अवधि तीन ज्ञान ही होते हैं।
५. मोक्षमार्ग के साधक वर्धमान चारित्रधारी मुनिराज हों तो किसी को मति, श्रुत, अवधि मनःपर्यय हूँ ये तीन ज्ञान होते हैं।
६. किसी वर्धमान चारित्रधारक विशेष मुनिराज को मति-श्रुत-अवधि इन तीन ज्ञानपूर्वक मनःपर्यय हूँ ये चार ज्ञान भी हो सकते हैं।
७. इसतरह दो, तीन अथवा क्षायोपशामिक चार ज्ञानपूर्वक भी सम्यग्ज्ञान की पूर्णता केवलज्ञान रूप से तेरहवें गुणस्थान में ही होती है।
८. तेरहवें गुणस्थान के पूर्व तो किसी को केवलज्ञान होगा ही नहीं, यह तो पक्का नियम है।
९. केवलज्ञान होने के पहले २, ३ अथवा ४ ज्ञान पूर्वक केवलज्ञान होने का स्वरूप जान लिया।
- केवलज्ञानरूप पूर्ण ज्ञान होने के पहले कुछ भी निश्चित क्रम न होने के कारण सम्यग्ज्ञान की पूर्णता अक्रम से ही होती है, यह विषय हमें स्पष्ट समझ लेना आवश्यक है।

सम्यग्ज्ञानरूप ज्ञान की उत्पत्ति होने के बाद तथा केवलज्ञानरूप ज्ञान की पूर्णता होने के बीच में अल्पकाल बीत जाने पर भी केवलज्ञान हो सकता है, अधिक काल बीतने पर भी हो सकता है अथवा अनेक भव बीत जाने पर भी केवलज्ञानरूप ज्ञान की पूर्णता हो सकती है। कुछ निश्चित काल का निर्णय नहीं है।

इसप्रकार सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति एवं सम्यग्ज्ञान की पूर्णता का विषय समाप्त होता है।

[सम्यग्ज्ञान की पूर्णता (दूसरा भाग) समाप्त]

ह●ह

अब क्रम प्राप्त सम्यक्चारित्र की पूर्णता का विषय समझना है। इसलिए प्रथम चारित्र गुण का स्वरूप एवं सम्यक् चारित्र की विशेषता

तीसरा भाग

को समझाना प्रारम्भ करते हैं ह

चारित्र गुण का स्वरूप

१. श्रद्धेय वस्तु में लीनता, स्थिरता को चारित्र कहते हैं।
२. सम्यक्चारित्र सुखमय एवं सुख का कारण है।
३. समतारूप वीतरागता अर्थात् चारित्र धर्ममय है; यह संवर-निर्जरा का कारण है। पूर्ण चारित्र ही मोक्षदाता है।
४. निज शुद्धात्मा में लीन होकर अतीन्द्रिय सुखी होना सम्यक् चारित्र का स्वरूप है। यह स्वरूप चौथे गुणस्थान में ही प्रगट होता है।
५. निज शुद्धात्मा की उग्र भावना व लीनता ही सम्यक् चारित्र है और सम्यक्चारित्र ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान से भी श्रेष्ठ है।
६. साधक के जीवन में एक ही काल में एक ही पर्याय में चारित्र/वीतरागता और अचारित्र/राग-द्वेष दोनों रहते हैं।
७. यह मिश्रपना चौथे गुणस्थान से लेकर भूमिका के अनुसार दसवें गुणस्थान तक होता है।
८. वीतरागता सुखरूप है और राग-द्वेष दुःखरूप हैं।
९. मिश्रपरिणाम/मिश्रधर्म में वीतरागता एवं राग-द्वेष हूँ दोनों अपने-अपने काल में एक-दूसरे से अप्रभावित होकर रहते हैं। दोनों अपना-अपना कार्य करते रहते हैं। इसी कारण से शुभोपयोग और अशुभोपयोग के काल में भी साधक जीव शुद्धपरिणतिरूप वीतरागता के कारण धर्मात्मा बने रहते हैं; अन्य कोई कारण नहीं।
१०. ज्ञान द्वारा स्वपने निर्णित श्रद्धेय वस्तु में मग्न होने का कार्य चारित्र

करता है। सम्यक्चारित्र पूर्ण होते ही मोक्ष होता है।

११. चारित्र के लिए सम्यक्त्व की अपेक्षा अधिक अर्थात् सतत अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ आवश्यक रहता है।
१२. चारित्र ही धर्म होने से वह मोक्षमार्ग का विशेष कारण है और मोक्ष, सम्यक् चारित्र का फल/कार्य है।
१३. तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम सूत्र में चारित्र अन्त में आया है। वह सूचित करता है कि चारित्र पूर्ण होते ही मुक्ति की प्राप्ति होती है। 'चारित्तं खलु धम्मो' इस सूत्र से चारित्र की महिमा स्पष्ट होती है।
१४. सम्यग्ज्ञान की स्थिरता (लीनता) को चारित्र कहते हैं।
१५. सराग एवं वीतराग ऐसे भी चारित्र के दो भेद होते हैं; इसमें वीतराग चारित्र ही निश्चय चारित्र है। वह समतारूप, राग-द्वेष मोहरहित भाव ही चारित्र है और वही धर्म है।
१६. निश्चय चारित्र के साथ जो व्रत, तप, संयमरूप पुण्यभाव हैं, उन्हें व्यवहारनय से चारित्र कहते हैं। निश्चय चारित्र ही वास्तविक चारित्र है।
१७. चरणानुयोग की अपेक्षा व्यवहार चारित्र के सामायिक आदि ५ अथवा १३ भेद हैं। इनमें भी वीतरागता ही प्राणस्वरूप है।
१८. व्यवहार चारित्र से पुण्य कर्म का बंध होता है, निर्जरा नहीं होती। व्यवहार चारित्र से संवर-निर्जरा मानना मिथ्यात्व है।
१९. चारित्र गुण की सम्यक्चारित्ररूप पर्याय की पूर्णता क्रम से ही होती है और बारहवें गुणस्थान के प्रथम समय में पूर्ण हो जाती है।
१९. सम्यक्चारित्र की पूर्णता चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय

नोट : मात्र चारित्र शब्द के प्रयोग में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान को भी गर्भित समझना।

में अथवा सिद्धावस्था में होती है।

सम्यक् चारित्र की विशेषता

१. वस्तुतः सूक्ष्मता से देखा जाय तो चारित्र गुण के सम्यक् परिणामन की एक विशिष्ट योग्यता यह है कि चौथे गुणस्थान से दसवें गुणस्थान पर्यंत चारित्र की एक समय की पर्याय में आंशिक सरागता एवं आंशिक वीतरागता रूप मिश्रधारा रहती है। इसे मिश्रधर्म भी कहते हैं।
२. पण्डित दीपचन्द्रजी कासलीवाल ने अनुभवप्रकाश ग्रन्थ में स्वतन्त्ररूप से मिश्रधर्म अधिकार लिखा है।
३. पण्डित टोडरमलजी ने इसे मोक्षमार्गप्रकाशक के सातवें अधिकार के संवर तत्त्व का अन्यथारूप प्रकरण में मिश्रभाव शब्द से स्पष्ट किया है।
४. मिश्रधर्म को ही आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार की आत्मख्याति टीका के कलश क्रमांक ११० में ज्ञानधारा-कर्मधारा नाम से लिखा है।
५. अमृतचन्द्र आचार्य ने ही पुरुषार्थसिद्धयुपाय ग्रन्थ के श्लोक क्रमांक २१२ से २१४ में इसी मिश्रधर्म का खुलासा किया है।
६. इसमें विशेष बात यह है कि एक गुण की एक समय की एक ही पर्याय में वीतरागभाव व रागभाव दोनों साथ-साथ रहते हैं और परस्पर विरोध न करते हुए अपनी सत्ता को अविरोधरूप से टिकाए रखते हैं।
७. सही रूप से सोचा जाय तो वीतरागता रागधारा को नष्ट करने का

काम तो सतत कर ही रही है; तथापि रागभाव एक चुटकी में अर्थात् अल्पकाल में नष्ट नहीं होता। एक भव में नष्ट होगा, ऐसा भी निर्णय नहीं है; अनेक भव भी लग सकते हैं; तथापि एकबार मिश्रभाव प्रगट होता है तो मोक्ष होता ही है।

८. मुख्य बात इतनी है कि जिस अन्तर्मुहूर्त में दोनों रहते हैं, उस समय तो दोनों का अपना-अपना अस्तित्व स्वतन्त्ररूप से ही रहता है। एक-दूसरे की मानो परवाह ही नहीं करते। परस्पर में अंशमात्र भी अपेक्षा नहीं रखते।
९. छद्मस्थ अवस्था में सम्यक् चारित्र के पर्याय की यह अति सूक्ष्म तात्त्विक विशेषता अध्ययनशील व्यक्ति को समझना व भावभासन करना अति आवश्यक है।
१०. श्रद्धा, ज्ञान एवं चारित्र इन तीनों प्रमुख गुणों में मिश्ररूप से परिणमित होनेवाला एक चारित्र गुण ही है।
११. यह मिश्रपना भी दीर्घकाल तक अपना अस्तित्व बनाए रखता है; यह भी वस्तु-व्यवस्था की अपनी स्वतन्त्र विशेषता ही समझना चाहिए।
१२. जो इसे मिश्रभाव, मिश्रधर्म, ज्ञानचेतना-कर्मचेतना, ज्ञानधारा-कर्मधारा को अपने बुद्धि-वैभव से नहीं समझ पाते हैं, उन्हें साधक की जीवनचर्या व निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग का स्वरूप की भावभासना होना अशक्य है।
१३. आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी ने अपने प्रवचनों में इस विषय का युक्तिपूर्वक व्यवस्थित ज्ञान कराया है। इसे पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट ने ज्ञानधारा-कर्मधारा नामक पुस्तक

के रूप में प्रकाशित भी किया है।

(पाठक इसका जरूर लाभ लें।)

सम्यक्चारित्र की पूर्णता

(क्रम से)

ज्ञान एवं उसकी पूर्णता का विकास का स्वरूप पिछले प्रकरण में हमने स्पष्ट किया है।

अब हमें मोक्षमार्गी के जीवन में चारित्र का विकास एवं उसकी पूर्णता नियमपूर्वक क्रम से ही होती है, यह समझना है।

- वस्तु-स्वरूप की यह कैसी विचित्रता है कि श्रद्धा गुण का सम्यक् परिणमन और उसकी पूर्णता एक ही समय में होती है।
- चारित्र गुण के विकास एवं पूर्णता का स्वरूप एकदम भिन्न ही है।
- १. अर्थात् सम्यक् चारित्र का विकास क्रम से ही होता है, भले ही पूर्णता के लिए समय कम या अधिक लगे।
- २. चौथे गुणस्थानवर्ती जीव का चारित्र संयम नाम नहीं पाता; तथापि चारित्र में आंशिक शुद्धता तथा सम्यक्पना तो आ ही जाता है। क्योंकि यहाँ मिथ्यात्व एवं अनन्तानुबन्धी कषायों का अभाव हुआ है।
- ३. चौथे गुणस्थान से लेकर चारित्र गुण की सम्यक्/शुद्ध पर्याय में विकास होता ही रहता है।
- ४. चारित्र बढ़ते-बढ़ते ग्यारहवें गुणस्थान में मोह-कर्म का सर्वथा उपशम होने पर पूर्ण सुख के साथ चारित्र (औपशमिक यथाख्यातरूप) पूर्ण हो जाता है; तथापि इन मुनिराजों का नीचे पतन होता ही है।
- ५. चारित्र बढ़ते-बढ़ते बारहवें गुणस्थान में मोहकर्म का सर्वथा क्षय होने पर पूर्ण सुख के साथ चारित्र क्षायिक यथाख्यातरूप पूर्ण हो जाता है एवं ये मुनिराज नियम से केवलज्ञानी हो जाते हैं।
- ६. सहवर्ती प्रतिजीवी गुणों की अपेक्षा तथा योग एवं चार अघाति

कर्मों के सद्भाव से केवलज्ञानी के चारित्र में भी कुछ कमी का कथन शास्त्र में मिलता है।

इन सभी विषयों का कथन आगे क्रम से देने का प्रयास है।

७१. प्रश्न है श्रद्धा-गुण के सम्यक् रूप परिणमन के साथ चारित्र गुण के सम्यक् रूप उत्पाद, विकास एवं उसकी पूर्णता का क्या स्वरूप है ? यह स्पष्ट करें।

उत्तर है सम्यक्चारित्र का जन्म/उत्पाद तो श्रद्धा-गुण के सम्यक् रूप पर्याय के समय ही होता है, इन दोनों ही श्रद्धा एवं चारित्र के सम्यक्पना का जन्म अर्थात् प्रगटता साथ-साथ (युगपत्) ही होती है।

अब सम्यक्चारित्र का उत्पाद, विकास एवं उसकी पूर्णता किस क्रम से होती है, उसे स्पष्ट करते हैं

सम्यक्चारित्र का जन्म अर्थात् उत्पाद तो सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान के साथ ही सामान्यतः चौथे गुणस्थान में होता है। सम्यक्चारित्र का विकास तो नियम से क्रमपूर्वक ही होता है और इसकी पूर्णता सिद्धावस्था के प्रथम समय में होती है।

वीतराग परिणाम को ही चारित्र कहते हैं।

यहाँ बाह्य व्रत, बाह्य संयम, उपवास आदि को चारित्र कहने या नहीं कहने की बात नहीं है। बाह्य पदार्थों के त्यागरूप परिणाम भी यथायोग्य समय पर भूमिकानुसार होते रहते हैं। बाह्य चारित्र/व्यवहार चारित्र का कथन भी सर्वज्ञ भगवान की दिव्यध्वनि में ही आया है।

७२. प्रश्न है सम्यक्चारित्र का विकास गुणस्थान के अनुसार क्रमशः किसप्रकार होता है, यह स्पष्ट करें।

उत्तर है सम्यक्चारित्र की उत्पत्ति सम्यग्दर्शन के साथ-साथ चौथे गुणस्थान में ही होती है, यह स्पष्ट है।

इसका कारण चौथे गुणस्थान में मिथ्यात्व एवं अनन्तानुबन्धी कषाय चौकड़ी के अभावपूर्वक व्यक्त वीतरागता है। यथायोग्य संवर एवं निर्जरा तत्त्व भी व्यक्त हो गये हैं। करणानुयोग भी इस विषय का

समर्थन करता है।

४३. प्रश्न ह्व करणानुयोग चौथे गुणस्थान को अविरत कहता है, इसकी मुख्यता से चौथे गुणस्थान में चारित्र नहीं है ह्व ऐसा मानने में क्या आपत्ति है ?

उत्तर ह्व देव-शास्त्र-गुरु की साक्षीपूर्वक, बुद्धिपूर्वक व्रतों का स्वीकार नहीं है तथा दो कषाय चौकड़ी के अभावपूर्वक विशिष्ट वीतरागता नहीं, इसलिए असंयमी है ह्व इसकी मुख्यता से चौथे गुणस्थान में संयमरूप अर्थात् देशसंयम और सकल संयमरूप चारित्र नहीं है ह्व ऐसा स्वीकारने में कोई आपत्ति नहीं है। जिनवाणी में जिस अपेक्षा से जो कथन किया है; उसे उस अपेक्षा से स्वीकार करना ही चाहिए।

चौथे गुणस्थान में द्रव्यानुयोग ने जिस विवक्षा से चारित्र का जो कथन किया है, उसे भी सबको स्वीकार करना चाहिए।

हठ करने में हित नहीं है।

७४. प्रश्न ह्व आप कुछ भी कहो; किन्तु चौथे गुणस्थान में आपको चारित्र मनवाने का हठ तो दिखता ही है ह्व ऐसा हम क्यों नहीं समझें ?

उत्तर ह्व भाईसाहब ! आपको हम कुछ प्रश्न पूछते जाते हैं, आप उनका उत्तर देते जाओगे तो सम्पूर्ण विषय स्पष्ट होगा ह्व ऐसा हमें लग रहा है। प्रयास करते हैं ह्व

७५. प्रश्न ह्व मिथ्यात्व गुणस्थान में कौनसा चारित्र है ?

उत्तर ह्व मिथ्यात्व गुणस्थान में सम्यक्त्व न होने के कारण चारित्र तो मिथ्या ही है, इस सम्बन्ध में किसी से कुछ पूछने की और अधिक चर्चा करने की कोई आवश्यकता ही नहीं है।

७६. प्रश्न ह्व सासादनसम्यक्त्व गुणस्थान में मिथ्याचारित्र तथा सम्यक्चारित्र में से कौनसा चारित्र है ?

उत्तर ह्व सासादनसम्यक्त्व गुणस्थान में सम्यक्त्व की विराधना हुई है, अभी मिथ्यात्वरूप भाव नहीं हुआ है और अनन्तानुबन्धीकषाय चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से अनन्तानुबन्धी कषायभाव हुए हैं; अतः

यहाँ भी चारित्र मिथ्या ही है।

७७. प्रश्न ह्व सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान में कौनसा चारित्र है ?

उत्तर ह्व तीसरे मिश्र अर्थात् सम्यग्मिथ्यात्व नामक गुणस्थान में श्रद्धा मिश्ररूप अर्थात् सम्यग्मिथ्यात्वरूप होने से यहाँ चारित्र भी मिथ्यात्वरूप ही है; वास्तविक सोचा जाय तो यहाँ मिथ्याचारित्र ही है। चारित्र गुण का परिणामन सम्यग्चारित्ररूप नहीं हुआ है।

७८. प्रश्न ह्व चौथा गुणस्थान तो नियम से सम्यक्त्व सहित है, अतः हमारा आपसे प्रश्न है कि यहाँ चारित्र कौनसा मानना चाहिए ? मिथ्याचारित्र अथवा सम्यक्चारित्र ?

उत्तर ह्व यहाँ सम्यक्त्व का अस्तित्व होने के कारण कोई भी समझदार व्यक्ति यही कहेगा कि चौथे गुणस्थान में सम्यक्चारित्र होता है।

चौथे गुणस्थान में व्रतरूप चारित्र नहीं है, इस अपेक्षा से चौथे गुणस्थान में व्रतरूप चारित्र कहना अयुक्त है।

सम्यक्त्व होते हुए भी एवं चारित्रमोहनीय अनंतानुबन्धी कषाय कर्म का उदय एवं परिणाम न होने पर भी सम्यक्चारित्र का स्वीकार न करना भी हठधर्मीपना ही है।

आचार्यश्री कुंदकुंद ने सम्यक्त्व होते ही चौथे गुणस्थान में सम्यक्त्वाचरण चारित्र का स्वीकार तो किया ही है।^१

जैसी-जैसी वीतरागता बढ़ती जाती है। तदनुसार सम्यक्चारित्र में शुद्धता का विकास होता रहता है। सम्यक्चारित्र के विकास के साथ-साथ सुख-आनंद, संवर-निर्जरा भी सहज ही बढ़ते रहते हैं।

सम्यक्त्व होने के बाद सम्यक्चारित्र के विकास के लिए विशेष अधिक आत्मोन्मुखी पुरुषार्थ करना अति आवश्यक है।

सम्यक्त्व होते ही चारित्र होने का निर्णय आचार्य विद्यानंदकृत श्लोकवार्तिक के प्रथम भाग में पृष्ठ ६१ पर आया है, उसे हम यहाँ दे रहे हैं ह्व

१. चारित्रपाहुड़ गाथा-८

“जैन सिद्धान्त अनेकान्तात्मक हैं, तीनों (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र) को मोक्षमार्ग प्रतिपादन करने से सात भंग हो जाते हैं।

१. केवलमात्र सम्यग्दर्शन, २. सम्यग्ज्ञान, ३. सम्यक्चारित्र, ४. सम्यग्दर्शन-ज्ञान, ५. सम्यग्दर्शन-चारित्र, ६. सम्यग्ज्ञान-चारित्र और ७. सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र।

अभेद संबंध से इन सातों को मोक्षमार्गपना है। जिस समय सम्यग्दर्शन है, उस समय आत्मोपलब्धि या भेदविज्ञान अवश्य है। साथ में स्वरूपाचरण चारित्र भी हैं।

जब देखोगे तब तीनों का जुद (संयुक्तपना) ही मिलेगा।

दर्शनप्राप्त आदि ग्रन्थों के ह

सम्मत्तविरहियाणं सुट्ठु वि उगं तवं चरंताणं।

ण लहंति बोहिलाहं अवि वाससहस्सकोडीहिं॥^१

अर्थ :ह जो पुरुष सम्यक्त्व से रहित हैं, वे सुट्ठु अर्थात् भलीभाँति उग्र तप का आचरण करते हैं; तथापि वे बोधि अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय जो अपना स्वरूप है, उसका लाभ प्राप्त नहीं करते। यदि हजार कोटि वर्ष तक तप करते रहे तब भी स्वरूप की प्राप्ति नहीं होती।

दंसणभट्टा भट्टा दंसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाणं।^२

अर्थ :ह जो पुरुष दर्शन (सम्यग्दर्शन) से भ्रष्ट हैं, वे भ्रष्ट हैं। जो दर्शन (सम्यक्त्व) से भ्रष्ट हैं, उनको निर्वाण नहीं होता।

न सम्यक्त्वसमं किंचित् त्रैकाले त्रिजगत्यपि।

श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम्॥^३

अर्थ :ह जीवों को सम्यग्दर्शन के समान तीनों काल और तीनों लोकों में अन्य कोई कल्याण करने वाला नहीं है.....। इत्यादि सम्यग्दर्शन को प्रधानता से कहने वाले वाक्य, तथा

बोधिलाभ एव शरणम्।

अर्थ :ह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र को बोधि कहते

१. दर्शनपाहुड़ गाथा-५ २. अष्टपाहुड़ गाथा- ३. रत्नकरण्डश्रावकाचार श्लोक-३४

हैं। दुःखी संसारी जीव को एकमात्र बोधि/रत्नत्रय की शरण आधार/आश्रय है।

चारित्रमेव पूज्यम्।

अर्थ :ह चारित्र वीतरागता ही वंदनीय है।

केवलज्ञानिनोऽपि पूर्णचारित्रमन्तरा न परममुक्तिः।

अर्थ :ह केवलज्ञानी सकल परमात्मा अरहन्त देवों को भी परिपूर्ण चारित्र के बिना सर्वोत्तम मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती।

इत्यादि ज्ञान या चारित्र को मुख्यता देनेवाले भी वाक्य ह तीनों के अविनाभाव को ही पुष्ट करते हैं।

क्वचित् अत्यंत संक्षेप से भले ही तीनों में से किसी एक गुण का वर्णन किया हो; किन्तु शेष गुण भी गतार्थ (ज्ञात) हो जाते हैं।

करे (सूँड) युक्त को करी (हाथी) कहते हैं। इस कथन में हाथी के पैर, पेट, पूँछ आदि अंगोपांग भी गम्यमान हैं और कहीं अधिक विस्तार से एक गुण की ही व्याख्या करने के लिए शास्त्रों के प्रकरण रचे गये प्रवृत्ति में आ रहे हैं।

वे सभी (वाक्य) इस मोक्षमार्ग के त्रित्वरूप अर्थ का उल्लंघन नहीं करते हैं।

अतः सच्चे आगम के कोई भी वाक्य यहाँ बाधक नहीं है।

शास्त्र के आगे-पीछे के एक-एक देशविषय को निरूपण करने पर वे परस्पर में अनुग्रह करने वाले ही सिद्ध होंगे। एक दूसरे के बाधक नहीं हो सकते हैं।

इस कारण सम्यग्दर्शन आदि तीनों को मोक्षमार्ग बताने वाला पहिला सूत्र प्रत्यक्ष, अनुमान और आगमबाधित नहीं हैं।

यथा वाधुनात्र चास्मदादीनां प्रत्यक्षादि न तद्बाधकं तथान्यत्रान्य-दान्येषां च विशेषाभावादिति सिद्धं सुनिश्चितासम्भवद्बाधकत्वमस्य तथ्यतां साधयति, सा च सूत्रत्वं, तत्सर्वज्ञवीतरागप्रणेतृकत्वामिति

निरवद्यम् प्रणेतुः साक्षात्प्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थतया प्रक्षीणकल्मषतया च विशेषणम् ।

उपर्युक्त संस्कृत गद्य अंश का पं. श्री माणिकचन्दजी कौदेयकृत हिन्दी अनुवाद निम्नप्रकार है ह

७९. प्रश्न : ऐसी व्यवस्था होने पर कोई कहे कि आजकल यहाँ के मनुष्यों के प्रत्यक्ष आदिक भले ही त्रित्व में बाधक न हों; किन्तु देशांतर कालांतर के विशिष्ट पुरुषों के प्रत्यक्ष आदि प्रमाण तो मोक्षमार्ग के बाधक हो जावेंगे?

उत्तर : श्रीविद्यानंद स्वामी कहते हैं कि यह ठीक नहीं है; क्योंकि जिसप्रकार इस देश में तथा इस काल में हम लोगों के प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ये तीन प्रमाण उस सम्यग्दर्शन आदि त्रिक के मोक्षमार्गपने में बाधक नहीं है; उसीप्रकार भिन्न देश, भिन्न काल के अन्यजनों के भी प्रत्यक्ष आदिक प्रमाण उस त्रित्व के बाधक नहीं हैं। क्योंकि इस काल, इस देश के, हम लोगों से, उस काल, उस देश के जानने वाले मनुष्यों का मोक्षमार्ग जानने में कोई अंतर नहीं है।

देश, काल के बदल जाने से प्रत्यक्ष आदिक ज्ञान की जातियों में फेर फार नहीं होता है।

इसप्रकार सूत्र में बाधक प्रमाणों के असम्भव हो जाने का निश्चय सिद्ध होता हुआ इस सूत्र को सत्यपने की सिद्धि करा देता है। जब सूत्र सत्य सिद्ध हो चुका तो सत्यता से वह सूत्र सर्वज्ञ, वीतराग का बनाया हुआ है यह भी ज्ञात हो जाता है।

इसप्रकार आदि सूत्र को बनाने वाले मोक्षमार्ग के नेता का केवलज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण तत्त्वों का प्रत्यक्ष जान चुकना और घाति कर्मों का नाश कर चुकना हू ये दोनों विशेषण पूर्व वार्तिक में दिये हुए दोष रहित सिद्ध हैं; क्योंकि कर्मों का क्षय करनेवाले सर्वज्ञ वीतराग ही अर्थरूप से सत्य

सूत्रों को बता सकता है।”

अब आगे सम्यक्चारित्र विकास का क्रम स्पष्ट करते हैं ह
१. चौथे गुणस्थान से पाँचवें गुणस्थान में चारित्र नियम से वृद्धि को ही प्राप्त होता है।

८०. प्रश्न हू चौथे से पाँचवें गुणस्थान में चारित्र बढ़ गया हू इसका क्या कारण है ?

उत्तर हू निमित्त की अपेक्षा चौथे गुणस्थान में मात्र एक अनन्तानुबन्धी कषाय चौकड़ी के अभावपूर्वक वीतरागता व्यक्त थी, अब पाँचवें गुणस्थान में बुद्धिपूर्वक देशत्रत के ग्रहणपूर्वक अप्रत्याख्यानावरण कषाय चौकड़ी का भी अभाव होने से दो कषाय चौकड़ी के अभावपूर्वक वीतरागता/शुद्धता बढ़ गयी है।

उपादानकारण की अपेक्षा विचार किया जाए तो साधक श्रावक ने निज शुद्धात्मा का आश्रय/ध्यान विशेषरूप से किया है। ध्यान की उग्रता/विशेषता बढ़ गयी है, निजशुद्धात्मा में स्थिरता की वृद्धि, यही मुख्य अर्थात् सही कारण है।

८१. प्रश्न हू मिथ्यात्व एवं अनन्तानुबन्धी कषाय चौकड़ी के अभावपूर्वक वीतरागता किस कारण से प्रगट हुई है ?

उत्तर हू मिथ्यात्व एवं अनन्तानुबन्धी कषाय कर्म का अभाव भी तत्त्व निर्णयपूर्वक मात्र शुद्धात्मा के ध्यान से ही हुआ है, होता है; अन्य कोई साधन या उपाय इसमें कार्यकारी नहीं है।

धर्म अर्थात् वीतरागता, शुद्धि, संवर-निर्जरा, सुख, आनंद उत्पन्न करना हो, बढ़ाना हो अथवा पूर्ण करना हो तो यह निज शुद्धात्मा का ध्यान अथवा निजशुद्धात्मा का आश्रय हू यह एक ही मार्ग है, अन्य कोई उपाय नहीं है।

आचार्य अमितगति योगसार-प्राभृत में लिखते हैं :-

तस्मात्सेव्यः परिज्ञाय श्रद्धयात्मा मुमुक्षुभिः ।

लब्धुपायः परो नास्ति यस्मान्निर्वाणशर्मणः ॥४४॥

सरलार्थ ह्म मोक्ष की इच्छा रखनेवाले साधक को, शुद्ध आत्मा को जानकर श्रद्धा द्वारा निजात्मा की उपासना करना चाहिए; क्योंकि मोक्षसुख की प्राप्ति का दूसरा कोई उपाय/साधन नहीं है।

न मोह-प्रभृति-च्छेदः शुद्धात्मध्यानतो विना।

कुलिशेन विना येन भूधरो भिद्यते न हि ॥३०६॥

सरलार्थ ह्म जिसप्रकार वज्र के बिना पर्वत नहीं भेदा जाता, उसी-प्रकार शुद्ध आत्मा के ध्यान बिना मोहादि कर्मों का छेद अर्थात् नाश नहीं होता।

विभक्तचेतन-ध्यानमत्रोपायं विदुर्जिनाः।

गतावस्तप्रमादस्य सन्मार्ग-गमनं यथा ॥३३६॥

सरलार्थ ह्म जिसप्रकार प्रमाद अर्थात् आलस्य रहित मनुष्य का सन्मार्ग पर सतत गमन करना अपेक्षित स्थान पर्यंत पहुँचने का सच्चा उपाय है; उसीप्रकार परमात्म-पद प्राप्ति का अथवा तत्त्वांतगति अर्थात् मुक्ति में पहुँचने का उपाय विभक्त चेतन अर्थात् शुद्धात्मा के ध्यान को ही जिनेन्द्र भगवंतों ने बतलाया है।

नाध्यात्म-चिन्तनादन्यः सदुपायस्तु विद्यते।

दुरापः स परं जीवैर्मोहव्यालकदर्शितैः ॥३४२॥

सरलार्थ ह्म अध्यात्म-चिंतन अर्थात् निज शुद्धात्मा के ध्यान से भिन्न दूसरा कोई परमात्मस्वरूप साध्य का साधन नहीं है।

विशेष बात यह है कि जो जीव मोहरूपी सर्प से डसे हुए हैं अथवा मोहरूपी हाथी से पीड़ित हैं, उनके लिये शुद्धात्मा का ध्यानरूपी सदुपाय अर्थात् उत्तम उपाय अत्यंत दुर्लभ है।

८२. प्रश्न ह्म धर्म के लिए निज शुद्धात्मा का ही ध्यान करना चाहिए, यह कथन मात्र द्रव्यानुयोग का है, अन्य अनुयोग की अपेक्षा

जो उपाय हैं, उनका कथन आप क्यों नहीं करते ?

उत्तर ह्म चरणानुयोग में बुद्धिपूर्वक परद्रव्य के त्याग की बात कही है, व्रत-उपवास का कथन किया है। करणानुयोग में कर्म के अभाव करने की बात आती है ह्म ये सब उपाय पूर्वचर-सहचर हेतु होने से उपचरित व्यवहार का कथन हैं, वास्तविक साधन नहीं हैं।

२. देशविरत गुणस्थान में बुद्धिपूर्वक महाव्रतों के अंगीकारपूर्वक छठवें-सातवें गुणस्थान में वीतरागता और बढ़ जाती है; क्योंकि ये दोनों गुणस्थान महाव्रती मुनिराज के हैं। मुनिराज तो आत्मध्यान का तीव्र पुरुषार्थ करते ही हैं, इसकारण वीतरागता विशेष वृद्धिगत होती है।

८३. प्रश्न ह्म आपने यहाँ पाँचवें गुणस्थान से छठवें गुणस्थान में अधिक चारित्र होता है ह्म ऐसा न कहकर छठवें-सातवें इसप्रकार दो गुणस्थानों का कथन एकसाथ ही क्यों किया ?

उत्तर ह्म देशविरत गुणस्थान में दो कषाय चौकड़ी के अभावपूर्वक वीतरागता है और छठवें-सातवें ह्म दोनों ही गुणस्थानों में तीन कषाय चौकड़ी के अभावपूर्वक वीतरागता/चारित्र/शुद्ध परिणति है, इसलिए दोनों गुणस्थानों का कथन एकसाथ किया है।

अन्तर मात्र इतना है कि छठवें गुणस्थान में संज्वलन कषाय के तीव्र उदय के साथ बुद्धिगम्य शुभोपयोग रहता है तथा उसके साथ वीतरागतारूप शुद्ध परिणति रहती है और सातवें गुणस्थान में संज्वलन कषाय के मंद उदय के साथ शुद्धोपयोग और अबुद्धिपूर्वक शुभभाव भी होता है।

३. सातवें गुणस्थान से आठवें गुणस्थान में शुद्धि/चारित्र का विकास और अधिक होता है; क्योंकि इस आठवें गुणस्थान में प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धि बढ़ती रहती है। आठवें गुणस्थान से श्रेणी

- भी शुरू हो जाती है। श्रेणी के काल में चारित्र नियम से विशेष-विशेष बढ़ता ही जाता है।
४. आठवें गुणस्थान से नौवें गुणस्थान में वीतरागता और विशेष वृद्धिगत हो जाती है। इस एक ही नौवें गुणस्थान में चारित्रमोहनीय कर्म की २० कर्मप्रकृतियों का उपशम वा क्षय हो जाता है।
 ५. नौवें गुणस्थान से दसवें गुणस्थान में चारित्र और भी अधिक बढ़ जाता है। यहाँ तो दसवें गुणस्थान में मात्र एक सूक्ष्म लोभ परिणाम ही विद्यमान रहता है। समय-समय प्रति अनन्तगुणी विशुद्धि, वीतरागता बढ़ने का काम तो चल ही रहा है।
 ६. दसवें गुणस्थान की अपेक्षा ग्यारहवें एवं बारहवें गुणस्थान में चारित्र अर्थात् वीतरागता और भी अधिक बढ़ जाती है अर्थात् वीतरागता पूर्णरूप से प्रगट होती है।
 ७. ग्यारहवें गुणस्थान में मोहनीयकर्म के उपशम के समय (निमित्त से) औपशमिक यथाख्यातचारित्र प्रगट होता है।
 ८. बारहवें गुणस्थान में क्षायिक यथाख्यातचारित्र व्यक्त हो गया है।
 ९. बारहवें गुणस्थान से भी तेरहवें गुणस्थान में ज्ञान, दर्शन आदि सहचर गुणों की पर्यायें पूर्ण शुद्धरूप से प्रगट होने के कारण चारित्र विशेष विकसित हो गया है; क्योंकि तेरहवें गुणस्थान में ज्ञानावरणादि तीन घाति कर्मों का भी क्षय हो गया है।
 १०. यहाँ चारित्र, क्षायिकयथाख्यात तो है ही; लेकिन इस चारित्र के साथ केवलज्ञानादि भी होने के कारण यहाँ के चारित्र को परमयथाख्यात चारित्र अर्थात् भावमोक्ष कहते हैं।
 ११. तेरहवें गुणस्थान की अपेक्षा चौदहवें गुणस्थान में योग के अभाव की अपेक्षा चारित्र और भी अधिक विशुद्ध हो गया है; क्योंकि यहाँ योग (आत्मप्रदेशों के कम्पनरूप चंचलता) का भी अभाव

हो गया है।

१२. चौदहवें गुणस्थान से सिद्धावस्था में द्रव्य मोक्ष की अपेक्षा चारित्र और अधिक विशुद्ध/विकसित होकर पूर्ण हो गया है; क्योंकि सिद्धावस्था में चार अघाति कर्मों का भी अभाव हो गया है।
१३. प्रदेशत्व गुण की पर्याय अर्थात् व्यंजन पर्याय भी शुद्ध हो गई है; जो अबतक अशुद्ध थी।
१४. इसप्रकार सिद्धावस्था के प्रथम समय में सम्यक्चारित्र की पूर्णता हो जाती है। अब यह चारित्र की पूर्णता भविष्य में अनन्तकाल तक वैसी की वैसी ही अर्थात् पूर्ण ही रहेगी।

५४. प्रश्न हूँ सिद्धावस्था के प्रथम समय में मोक्षमार्ग की पूर्णता का अर्थ आपने सिद्ध भगवान को भी मोक्षमार्गी मान लिया, मुक्त नहीं माना; क्या हम ऐसा ही समझें ?

उत्तर हूँ नहीं, आपका मानना सही नहीं है। हमने सिद्धावस्था में मोक्षमार्ग नहीं माना है; परन्तु मोक्षमार्ग की पूर्णता मानी है। मोक्षमार्ग की पूर्णता कहो अथवा मोक्ष कहो दोनों का एक ही अर्थ है।

- मोक्षमार्ग तो चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक है।
- साधनों की अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पूर्णता ही साध्यरूप मोक्ष की प्राप्ति है।
- साधनों की पूर्णता ही साध्य की प्राप्ति है।
- मोक्षमार्ग का व्यय और मोक्ष का उत्पाद हूँ ये दोनों एक समय में होते हैं।^१
- मोक्षमार्ग और मोक्ष दोनों का सद्भाव एकसाथ/एकसमय में नहीं होते।

८५. प्रश्न हूँ हमें शंका होती है कि मोक्षमार्ग का व्यय होने पर मोक्ष में सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय का अस्तित्व रहेगा या नहीं, सिद्ध भगवान सम्यग्दर्शनादि से रहित होंगे, क्या हमें ऐसा स्वीकार करना उचित है?

१. प्रवचनसार गाथा १०२ की टीका

उत्तर ह्व नहीं, मोक्षमार्ग का व्यय होने पर भी मोक्ष में सम्यग्दर्शनादि का व्यय/अभाव नहीं होता।

- मोक्ष में सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय विद्यमान रहेंगे।
- अंतर मात्र इतना रहेगा कि मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शनादि साधनरूप से थे, वे ही मोक्ष में साध्यरूप से रहते हैं।
- पहले उपायरूप से थे अब मोक्ष में वे ही उपेयरूप से विद्यमान रहते हैं।
- सम्यग्दर्शनादि का मोक्ष में अभाव नहीं होता।

इस विषय को मोक्षमार्ग प्रकाशक में अति स्पष्टरूप से पृष्ठ ३२२ पर दिया है, उसे हम आगे दे रहे हैं ह्व

८६. “फिर प्रश्न है कि ह्व सम्यग्दर्शन को तो मोक्षमार्ग कहा था, मोक्ष में इसका सद्भाव कैसे कहते हैं?

उत्तर ह्व कोई कारण ऐसा भी होता है जो कार्य सिद्ध होने पर भी नष्ट नहीं होता। जैसे ह्व किसी वृक्ष के किसी एक शाखा से अनेक शाखायुक्त अवस्था हुई, उसके होने पर वह एक शाखा नष्ट नहीं होती; उसी प्रकार किसी आत्मा के सम्यक्त्वगुण से अनेक गुणयुक्त मुक्त अवस्था हुई, उसके होने पर सम्यक्त्वगुण नष्ट नहीं होता। इस प्रकार केवली-सिद्ध भगवान के भी तत्त्वार्थ श्रद्धान लक्षण सम्यक्त्व ही पाया जाता है।”

- सम्यग्दर्शन की पूर्णता चौथे गुणस्थान में।
- सम्यग्ज्ञान की पूर्णता तेरहवें गुणस्थान में।
- सम्यक्चारित्रगुण की भाव शुद्धता बारहवें गुणस्थान में।
- द्रव्य चारित्र की पूर्णता सिद्धावस्था के प्रथम समय में होती है।
- अब साधक, साधक अवस्था का अभाव होने पर सिद्ध भगवान हो गये हैं।

८७. प्रश्न ह्व चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय पर्यन्त जीव को साधक अर्थात् संसारी मानना है या नहीं मानना ?

उत्तर ह्व चौदहवें गुणस्थानवर्ती को हम ही संसारी मान रहे हैं ह्व

ऐसा नहीं है। वे संसारी ही हैं; क्योंकि अभी वे सकल (शरीरसहित) परमात्मा हैं। शास्त्र में इनको शुद्ध व्यवहारी कहा है।

अघाति कर्मों का उदय होने से औदयिक भावों का उन्हें सद्भाव है। मनुष्यायु का उदय भी तो है, असिद्धत्व भाव भी है; इसलिए चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय पर्यन्त अरहन्त भगवान संसारी ही हैं। अरहन्त को जीवनमुक्त, इषत्संसारी या नोसंसारी भी कहते हैं।

८८. प्रश्न ह्व फिर संसारावस्था का नाश और सिद्धावस्था की प्राप्ति कब हुई ?

उत्तर ह्व संसारावस्था का व्यय और सिद्धावस्था का उत्पाद दोनों का समय एक ही है। पहले संसार का व्यय होता है और कुछ काल व्यतीत होने पर सिद्धावस्था की प्राप्ति होती है, ऐसा समय-भेद नहीं है।

पहले अन्धकार निकल जाता है, तदनन्तर मन्द-मन्द गति से प्रकाश का प्रवेश होता है ह्व ऐसा नहीं है।

पूर्व पर्याय का व्यय व नवीन पर्याय का उत्पाद एक ही काल में होता है, उनमें समय भेद नहीं होता है।^१

८९. प्रश्न ह्व दसवें गुणस्थान के अन्तिम समय में चारित्रमोहनीय का अभाव होकर बारहवें गुणस्थान के प्रथम समय में ही क्षायिक यथाख्यात-चारित्र होता है; तथापि आप सम्यक्चारित्र की पूर्णता सिद्धावस्था के प्रथम समय में क्यों कहते हो?

उत्तर ह्व सम्यक्चारित्र की पूर्णता के लिए मात्र चारित्रमोहनीय कर्म का ही अभाव अपेक्षित नहीं है; अपितु पूर्ण वीतरागता के साथ योग एवं चार अघाति कर्मों का अभाव भी अपेक्षित होता है, इसीलिए भाव तथा द्रव्य चारित्र की पूर्णता सिद्धावस्था के प्रथम समय में ही होती है।

इस विषय की स्पष्टता के लिए हम बृहद् द्रव्यसंग्रह गाथा १३ की हिंदी टीका का विशिष्ट अंश आगे दे रहे हैं ह्व

९०. प्रश्न हूँ “यहाँ शिष्य पूछता है कि केवलज्ञान की उत्पत्ति होने पर मोक्ष के कारणभूत रत्नत्रय की परिपूर्णता हो गई तो उसी क्षण मोक्ष होना चाहिये। अतः सयोगी-अयोगीजिन नामक दो गुणस्थानों का काल नहीं रहता है।

इस शंका का उत्तर देते हैं हूँ यथाख्यातचारित्र तो हुआ; परन्तु परम यथाख्यातचारित्र नहीं है। यहाँ दृष्टान्त है हूँ जैसे कोई मनुष्य चोरी नहीं करता है तो भी उसे चोर के संसर्ग का दोष लगता है; उसी प्रकार सयोग केवलियों के चारित्र का नाश करनेवाले चारित्रमोह के उदय का अभाव होने पर भी निष्क्रिय शुद्धात्म-आचरण से विलक्षण तीन योग का व्यापार चारित्र में दोष उत्पन्न करता है।

तथा तीन योग का जिसको अभाव है उस अयोगी जिनको, चरम समय के अतिरिक्त, शेष चार अघातिकर्मों का तीव्र उदय द्रव्य चारित्र में दोष उत्पन्न करता है। चरम समय में मंद उदय होने पर, चारित्र में दोष का अभाव होने से, वह मोक्ष को प्राप्त करता है।”^१

यथाख्यात चारित्र को लेकर और कुछ चर्चा प्रश्नोत्तररूप में करते हैं हूँ

९१. प्रश्न : आपने बारहवें गुणस्थान के प्रथम समय में भाव चारित्र के पूर्ण होने का कथन किया; वह हमें पूर्णरूप से समझ में नहीं आया, कृपया स्पष्ट करें ?

उत्तर : मोहनीय कर्म के उदय से प्रगट होनेवाले परिणाम को मिथ्याचारित्र या अचारित्र कहते हैं। मिथ्यात्व गुणस्थान से तीसरे गुणस्थान पर्यंत तीनों गुणस्थान में मिथ्याचारित्र रहता है।

चौथे गुणस्थान से लेकर दसवें गुणस्थान के अंतिम समय पर्यंत यथास्थान चारित्रमोह कर्म का उदय एवं मोह परिणाम होने से चारित्र

१. बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा-१३ की टीका

सम्यक् होने पर भी (साथ में सूक्ष्म लोभ के कारण) अचारित्र भी रहता है।

चौथे गुणस्थान से दसवें गुणस्थान पर्यंत जितनी मात्रा में कषाय के अभावपूर्वक वीतरागता प्रगट है, उतनी मात्रा में सम्यक्चारित्र व्यक्त है; यह विषय स्पष्ट है।

ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान के प्रथम समय से लेकर नियम से पूर्ण वीतराग परिणाम रहता है। अतः ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान के प्रथम समय से ही भाव चारित्र पूर्ण प्रगट होता है, क्योंकि यहाँ (इन दोनों) गुणस्थानों में वीतरागता पूर्णरूप से प्रगट है।

अर्थात् किसी भी प्रकार का कोई मोह-राग-द्वेषरूप परिणाम नहीं है। इसलिए हमने बारहवें गुणस्थान के प्रथम समय से ही भावचारित्र पूर्ण है, ऐसा लिखा है।^१

इसीतरह तेरहवें एवं चौदहवें गुणस्थान में तथा सिद्ध अवस्था में भी भाव चारित्र पूर्ण रूप से ही प्रगट रहता है।

परमार्थतः जब तक आत्म-प्रदेशों के परिस्पन्दनरूप योग का एवं नर देहाकार रूप विभाव व्यंजन पर्याय का सर्वथा अभाव नहीं हो जाता तब तक द्रव्य चारित्र गुण की परिपूर्ण शुद्ध अवस्था व्यक्त हुई, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसी अपेक्षा से स्वभाव व्यंजन पर्याय से परिणत सिद्ध अवस्था में ही चारित्र की पूर्णता कही जाती है।

१. इस भावचारित्र को ही पण्डित दीपचन्द्रजी कासलीवाल ने गुणमोक्ष शब्द से कहा है। उसे उनके ही शब्दों में आगे दे रहे हैं हूँ

अप्रमत्त अवस्था से चारित्रादि गुणों की शक्तियों का मोक्षरूप होने का मार्ग प्रधानता से आरंभ हुआ था, वह मार्ग यहाँ परिपूर्ण होकर उत्पन्न हुआ। वे चारित्रादिगुण मोक्षरूप निष्पन्न हुए, तब गुणमोक्ष संपूर्ण हुआ। इति गुणमोक्षमार्ग विवरण।

गुणमोक्षमार्ग चौथे गुणस्थान से प्रारंभ हुआ था, बारहवें गुणस्थान के अंत तक संपूर्ण हुआ।

९२. प्रश्न : तेरहवें गुणस्थान में भाव चारित्र का प्रगट स्वरूप कैसा रहता है ?

उत्तर : तेरहवें गुणस्थान में वीतरागता पूर्ण होने के कारण यहाँ ग्यारहवें एवं बारहवें गुणस्थान के समान यथाख्यात चारित्र तो है ही। तेरहवें गुणस्थान में केवलज्ञान प्रगट होने के कारण यथाख्यात चारित्र को परम यथाख्यात/परमावगाढ़ यथाख्यात चारित्र भी कहते हैं। तथापि अभी सयोगी जिन अवस्था होने से आत्म-प्रदेशों का परिस्पन्दनरूप अचारित्र विद्यमान कहा जाता है। उसका भी अभाव अभीष्ट है।

तेरहवें गुणस्थान के अंत में ही मोक्ष हो जाना चाहिए; इस विषय को लेकर आचार्य श्री विद्यानन्द के जो प्रश्नोत्तर तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक के भाग-१ में पृष्ठ १४८ पर है वह यहाँ उपयोगी जानकर हम दे रहे हैं ह

९३. “प्रश्न : दसवें गुणस्थान के अंत में चारित्रमोहनीय का अविकल ध्वंस हो जाने पर क्षायिक चारित्रगुण भी बारहवें गुणस्थान के आदि समय में प्रकट हो चुका है। तथा बारहवें गुणस्थान के अंत में ज्ञानावरण के नाश हो जाने से तेरहवें (गुणस्थान) की आदि में क्षायिक केवलज्ञान भी उत्पन्न हो गया है। फिर क्या कारण है कि रत्नत्रय होने पर भी मोक्ष नहीं हो पाता है?

उत्तर : ग्रन्थकार कहते हैं कि यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि व्यवहारनय से यद्यपि तीनों रत्न पूर्ण हो चुके हैं, फिर भी चारित्र गुण में अघातिकर्मों के निमित्त से आनुषंगिक दोष आ जाते हैं।

परमावगाढ़ सम्यग्दर्शन चौदहवें गुणस्थान के अंत में माना है तथा पूरा चारित्र व्युपरतक्रियानिवृत्ति ध्यान भी चौदहवें के अंत समय में माना है।

निश्चयनय से चौदहवें गुणस्थान के अंत समय में योग रहित केवलज्ञानी के होने वाले रत्नत्रय को मोक्ष का कारणपना व्यवस्थित किया गया है। तब वे एक क्षण भी संसार में नहीं ठहरते हैं।

चौदहवें के अंत में रत्नत्रय की पूर्णता कर उसके उत्तरक्षण में

स्वाभाविक ऋजुगति से ऊर्ध्व-गमन कर लोक के सबसे ऊपर तनुवात बलय में स्थित पैतालीस लाख योजन लम्बे-चौड़े और पाँच सौ पच्चीस धनुष ऊँचे, थाली के आकार गोल सिद्धलोक में वे (सिद्ध भगवान) अनंत काल तक के लिये विराजमान हो जाते हैं।”

९४. प्रश्न : चौदहवें गुणस्थान में भाव चारित्र का स्वरूप कैसा है ?

उत्तर : तेरहवें गुणस्थान के समान ही चौदहवें गुणस्थान में परम यथाख्यात चारित्र तो है ही; तथापि तेरहवें गुणस्थान से यहाँ चारित्र और अधिक परिष्कृत/विशुद्धरूप हो गया है; क्योंकि यहाँ योग का/आत्मा के प्रदेशों के परिस्पन्दन का अभाव हो गया है।

सम्यक्चारित्र की पूर्णता एवं मोक्ष की प्राप्ति के संबंध में पंडित सदासुखदासजी कृत अर्थप्रकाशिका टीका (तत्त्वार्थ सूत्र) ग्रन्थ का पृष्ठ ४४० का विशिष्ट भाग अत्यन्त उपयोगी जानकर उनके ही शब्दों में आगे दे रहे हैं ह

“यहाँ ऐसा जानना – यथाख्यात चारित्र तो पहिले ही बारहवें गुणस्थान में ही हो गया था। परन्तु चारित्र की परिपूर्णता-चौरासी लाख उत्तरगुण तथा अठारह हजार शील – इनकी परिपूर्णता चौदहवें गुणस्थान के अन्त में ही होती है। इसलिए यथाख्यात चारित्र की परिपूर्णता यहाँ (चौदहवें गुणस्थान के अन्त में) होना लिखी है।

यहाँ यथाख्यात चारित्ररूप ज्ञान-दर्शन ही का परिणमन हुआ है।

यदि पहिले ही रत्नत्रय परिपूर्ण हो गया होता तो मोक्ष भी उस ही काल में हो जाना चाहिए था।

इसलिए जहाँ रत्नत्रय की पूर्णता होती है, वहीं उसी समय में मोक्ष हो जाता है – ऐसा जानना।”

(चौदहवें गुणस्थान के अन्तिम समय में कहो अथवा सिद्ध-अवस्था के पहले समय में कहो हूँ दोनों कथनों का एक ही अर्थ होता है।)

ज्ञानगुण एवं चारित्र गुण की पूर्णता के संबंध में आत्मावलोकन-शास्त्र का (पृष्ठ ८०) निम्न अंश भी उपयोगी है; अतः दिया जा रहा है ह

१५. प्रश्न ह “तथा किसी ने प्रश्न किया ह जैसे सम्यक्त्वगुण को सम्यक् होना कहा, उसीप्रकार ज्ञानादिगुण सम्यक् न कहे, उन ज्ञानादि गुणों की कितनी ही शक्तियाँ सम्यक् हुई कहीं, इनमें क्या भेद (रहस्य) है?

उत्तर ह यहाँ सम्यक्त्वगुण तो सर्व सम्यक् हो गया है तथा ज्ञानादिक गुणों की कितनी ही शक्तियाँ सम्यक् रूप हुई, ज्ञानादि गुणों की अन्य कितनी ही शक्तियाँ अबुद्धिरूप मलिन हैं।

क्षीणमोह गुणस्थान के काल के अंत में ज्ञानादि गुणों की सर्व अनंत-शक्तियाँ सम्यक् रूप होंगी, तब ज्ञानादिगुण सर्व सम्यक् हुए कहलायेंगे।

१६. प्रश्न ह पुनः अन्य प्रश्न : जो ज्ञानादि गुण क्षीणमोह (गुणस्थान) काल के अन्त में सर्व सम्यक् होंगे तो वहाँ द्रव्य को ही सम्यक् नाम क्यों न कहा?

उत्तर ह हे भाई! उस काल में सर्व शक्तियों से सर्व गुण तो सम्यक् हुए; परन्तु द्रव्य के प्रदेशों के कंपनरूप विकार से भी द्रव्य कुछ मलिन है तथा वह विकार भी अयोगी गुणस्थान के अन्त में नष्ट होगा, तब द्रव्य सर्वथा सम्यक् रूप होगा।

तीन लोक के ऊपर केवल एक जीवद्रव्य अपने आप तिष्ठेगा।”^१

तेरहवें गुणस्थान के चारित्र के संबंध में आचार्य जयसेन विरचित प्रवचनसार गाथा २४४ की संस्कृत टीका का हिन्दी अनुवाद व भावार्थ (डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल कृत) भी समझने योग्य है। पहले संस्कृत का हिन्दी अनुवाद ह

१७. “प्रश्न : इसप्रकार वीतरागचारित्रसंबंधी विशेष कथन सुनकर कुछ लोग कहते हैं कि सयोग केवलियों के भी एकदेश चारित्र है, परिपूर्ण चारित्र तो अयोगी के अन्तिम समय में होगा।

१. आत्मावलोकन पृष्ठ-८०

इसकारण अभी हमारे लिए तो सम्यक्त्वभावना और भेदज्ञान की भावना ही पर्याप्त है, चारित्र तो बाद में होगा।

उत्तर : उनकी शंका का समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि अभेदनय से ध्यान ही चारित्र है और वह ध्यान केवलियों के उपचार से कहा गया है; इसीप्रकार चारित्र भी उपचार से कहा है।

सम्पूर्ण रागादि विकल्पजाल रहित शुद्धात्मानुभूति लक्षण सम्यग्दर्शनज्ञानपूर्वक छद्मस्थ का वीतरागचारित्र ही कार्यकारी है; क्योंकि उससे ही केवलज्ञान उत्पन्न होता है; इसलिए उसका ही प्रयत्न करना चाहिए।”^१

अब आगे डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल का भावार्थ ह

१८. “प्रश्न ह यहाँ कहा गया है कि ध्यान और चारित्र केवली भगवान के उपचार से कहे गये हैं। यह भी कहा गया है कि छद्मस्थों का वीतराग चारित्र ही कार्यकारी है।

उक्त संदर्भ में प्रश्न यह है कि शुक्लध्यान के अन्तिम दो पाये (भेद) तो सयोग केवली और अयोग केवलियों के ही होते हैं तथा उनके पूर्ण वीतरागता भी है ही ह ऐसी स्थिति में यह कैसे माना जा सकता है कि सयोग केवली और अयोग केवलियों के ध्यान व चारित्र कहना उपचरित कथन है।

यह भी कैसे जाना जा सकता है कि सयोग केवलियों के एकदेश चारित्र है; क्योंकि परिपूर्ण चारित्र तो अयोग के अन्तिम समय में होगा।

शास्त्र में यह भी तो लिखा है कि पंचम गुणस्थान वालों के एकदेश चारित्र अर्थात् एकदेशव्रत और मुनिराजों के सकलचारित्र अर्थात् महाव्रत होते हैं।

उत्तर : अरे भाई, यह सब सापेक्ष कथन हैं। जिनागम में विविध प्रकरणों में विविध अपेक्षाओं से विविधप्रकार के कथन किये जाते हैं। अतः जहाँ जो अपेक्षा हो, उसे सावधानी से समझना चाहिए।

यहाँ अपेक्षा यह है कि हम छद्मस्थों को तो वही ध्यान-ध्यान है १. आचार्यजयसेनकृत प्रवचनसार की संस्कृत तात्पर्यवृत्ति टीका, गाथा-२४४

और वही चारित्र-चारित्र है; जो हमें अतीन्द्रियसुख और अतीन्द्रियज्ञान (केवलज्ञान) की प्राप्ति कराये।”

१९. प्रश्न हूँ सिद्ध अवस्था के प्रथम समय में प्रगट चारित्र का क्या स्वरूप है ?

उत्तर : चौदहवें गुणस्थान की अपेक्षा सिद्धावस्था के प्रथम समय में चारित्र और भी अधिक विशुद्ध (परिष्कृत) हो गया है। स्वभाव व्यंजन पर्याय प्रगट हो गई है। अब भविष्य में अनंत काल तक चारित्र के परिष्करण में और कुछ होना शेष नहीं रहा; क्योंकि यहाँ चारित्र में किसी प्रकार की कुछ कमी नहीं रही।

चौदहवें गुणस्थान में चार अघाति कर्मों के उदय से अव्याबाध आदि कारण प्रतिजीवी गुणों के अशुद्धता के कारण एवं असिद्धत्व औदयिक भाव के कारण जो कुछ कमियाँ थीं अब यहाँ उनका भी सर्वथा अभाव हो गया है। इसलिए सम्यक्चारित्र पूर्णरूप से विशुद्ध हो गया है। चौदहवें गुणस्थान में अर्थात् सदेह अरहंत अवस्था के कारण आत्मा के व्यंजन पर्याय थी।

अब सिद्ध अवस्था के प्रथम समय में आत्मा की व्यंजन पर्याय भी पूर्ण शुद्ध हो गयी है। अतः यहाँ द्रव्य चारित्र की पर्याय भी पूर्णरूप से प्रगट हो गयी है। भावचारित्र तो बारहवें गुणस्थान के प्रथम समय में प्रगट हो ही गया था। अतः यहाँ (सिद्ध अवस्था के प्रथम समय में) अभेद विवक्षा से भाव एवं द्रव्य चारित्र पूर्णता को प्राप्त हो गया है।

१००. प्रश्न हूँ एक बार सम्यक्चारित्र उत्पन्न हो गया तो वह नियमपूर्वक बढ़ते-बढ़ते सिद्धावस्थापर्यंत पहुँच ही जाता है अथवा बीच में कुछ पतित होने की अनपेक्षित एवं दुःखद घटना भी हो सकती है ?

उत्तर हूँ एक बार सम्यक्चारित्र उत्पन्न होने पर वह चारित्र उसी भव में सिद्धावस्था पर्यंत बढ़ते हुए पूर्ण होने का नियम नहीं है।

निम्नप्रकार से अनेक प्रकार सम्भव है हूँ

१. ऐसे बहुत कम जीव होते हैं, जिनके जीवन में सम्यक्चारित्र उत्पन्न होने पर वे पतित न होकर सीधे उसी भव से सिद्ध हो जाते हैं।
२. ऐसे जीव ही अधिक होते हैं, जिनके जीवन में एक बार सम्यक्चारित्र उत्पन्न हुआ और वे उससे रहित हो गये। सम्यक्त्व प्राप्त होते ही आंशिक सम्यक्चारित्र तो उत्पन्न हुआ; लेकिन सम्यक्त्व छूटते ही सम्यक्चारित्र भी नियम से छूट जाता है।
३. अनेक साधक ऐसे भी होते हैं, जो सम्यक्त्व एवं सम्यक्चारित्र के साथ देशविरत गुणस्थानपर्यंत ही चारित्र बढ़ा पाते हैं और फिर संयमासंयम चारित्र से च्युत होकर अविरत सम्यग्दृष्टि ही अनेक भवों तक रहते हैं तथा कदाचित् मिथ्यादृष्टि भी हो जाते हैं।
४. कुछ साधक ऐसे भी होते हैं, जिन्होंने सामान्य मुनि जीवन अर्थात् छठवें-सातवें गुणस्थान योग्य चारित्र को विकसित किया, फिर उनका वह चारित्र छूट गया और अविरत सम्यक्त्वी रह गये अथवा मिथ्यादृष्टि भी हो गये।
५. कुछ साधक तो ग्यारहवें गुणस्थान पर्यंत पूर्ण वीतरागरूप चारित्र को प्राप्त करके यथाख्यात औपशमिक चारित्रवंत होते हैं और फिर पतित होकर मिथ्यात्वी भी होकर निगोद में भी चले जाते हैं। ग्यारहवें गुणस्थान से पतित होकर किंचित् न्यून अर्थ-पुद्गलकाल पर्यंत संसार में रखड़ते हैं; अटक जाते हैं।
६. जैसे हूँ भगवान महावीर के जीव ने शेर की पर्याय के पूर्व अनेक भवों के पहले सम्यक्त्व पाकर अर्द्धचक्रवर्तित्व अर्थात् नारायण पद भी प्राप्त किया था।^१ ग्यारहवें गुणस्थान पर्यंत विकास भी किया, फिर भी वहाँ से च्युत होकर परम्परा से निगोदावस्था को भी प्राप्त किया था।
७. ऐसे उत्थान के बाद पतित होनेवाले जीव भी अनेक होते हैं।

१. त्रिपृष्ठ नारायण, नौ नारायण में प्रथम नारायण का, तीर्थकर श्रेयांस के तीर्थकाल में हुए थे।

परिणामों की ऐसी ही विचित्रता है।

८. साधक मोक्ष जाने के पहले अनेक मनुष्य पर्यायों में भावलिङ्गी मुनिपना अधिक से अधिक बत्तीस बार प्राप्त कर सकते हैं और उसके पश्चात् नियम से मुक्त हो जाते हैं।
९. कुछ मुनिराज मोक्ष जाने के पहले-पहले अनेक मनुष्य पर्यायों में चार बार उपशम श्रेणी मांडकर औपशमिक चारित्रवंत हो जाते हैं और फिर नियम से क्षपक श्रेणी मांडकर मुक्त हो जाते हैं। विशेष इतना है कि एक भव में एक मुनिराज दो बार ही उपशम श्रेणी पर आरोहण करते हैं।
१०. कुछ साधक ऐसे भी होते हैं, जिन्होंने ग्यारहवें गुणस्थान पर्यन्त विकास किया और फिर मिथ्यादृष्टि हो गये। तदनंतर मिथ्यात्व अवस्था में एक अन्तर्मुहूर्त अथवा चौदह उपअंतर्मुहूर्त कम अर्द्धपुद्गलपरावर्तन काल पर्यंत संसार में रहे।
११. अन्तिम मनुष्यभव के अन्तिम एक अन्तर्मुहूर्त में ही औपशमिक, क्षायोपशमिक तथा क्षायिक सम्यक्त्व व सम्यक्चारित्र सहित मुनिजीवन योग्य चारित्रपूर्वक क्षपक श्रेणी पर आरोहण कर पूर्ण चारित्र विकसित कर सिद्ध अवस्था प्राप्त कर लेते हैं।

१०१. प्रश्न हूँ ग्यारहवें गुणस्थान पर्यंत चारित्र विकसित होने के बाद भी उनका नीचे पतन होना और परंपरा से निगोद में भी गमन हो जाना हूँ यह बात कुछ समझ में नहीं आती और योग्य भी नहीं लगती।

एक बार मोक्षमार्ग प्राप्त हुआ तो सीधे भगवान बन जाना ही योग्य लगता है। यह सब उत्थान-पतन, फिर उत्थान एवं पूर्णता हूँ ऐसा नहीं होना चाहिए। व्यर्थ ही दुःखी होते हुए क्यों अटके क्यों भटके?

उत्तर हूँ हे भाई ! आप उत्थान अर्थात् विकास के बाद जब तक पूर्णता न हो, तब तक लगातार विकास ही विकास चाहते हो, यह आपकी भावना हमें समझ में आ गयी। आपकी भावना तो सर्वोत्तम है;

किन्तु वस्तु-व्यवस्था अथवा जीव के मोहोदय के निमित्त, पुरुषार्थ की हीनता/शिथिलता एवं काललब्धि, होनहार के अनुसार कार्य होता है। मेरे-आपके विचार तथा अभिप्राय के अनुसार कार्य संपन्न नहीं होता। वस्तु व्यवस्था जैसी है, वैसी ही हमें स्वीकृत होनी चाहिए।

जीव के विचार, परिणाम, भावों में सतत अनुकूल-प्रतिकूल परिवर्तन (शुभभाव, अशुभभाव, शुद्धभाव) होते ही रहते हैं; इसीलिए उत्थान-पतन, फिर उत्थान एवं पूर्णता ऐसा सब सहज है। हमें यह सहज/स्वाभाविक स्वरूप स्वीकृत न होने से ही हमारा संसार परिभ्रमण का दुःखद नाटक अनादि काल से चल रहा है।

स्वाभाविक वस्तुव्यवस्था जानना हमारा कर्तव्य है, उसे अच्छा-बुरा मानने की मिथ्या कल्पना से तो संसार ही बढ़ता है। जो जैसा है, उसे वैसा ही स्वीकारना, समझदारी का काम है।

अरहंतादि पंच-परमेष्ठी का अथवा जिनवाणी का हमें यही उपदेश है कि हूँ अपने को वस्तु-स्वरूप का तथा वस्तु-व्यवस्था का परिज्ञान करके मात्र बुद्धिपूर्वक ज्ञाता-दृष्टा रहना चाहिये।

‘किसी भी परद्रव्य का कर्त्ता-धर्त्ता मत बनो, किसी के इष्टानिष्ट मत मानो।’ सुखी होने का सच्चा, सुगम, सहज, सरल एवं सर्वोत्कृष्ट तथा शाश्वत उपाय यह एक ही है।

श्रद्धा, ज्ञान एवं चारित्र गुण के परिणमन को लेकर श्री स्वामीजी के विचार विशेष चिंतनीय है हूँ

१०२. “प्रश्न हूँ कितने ही अज्ञानी ऐसी शंका करते हैं कि यदि जीव को सम्यग्दर्शन हुआ हो और आत्मा की प्रतीति हो गई हो तो उसे खाने-पीने इत्यादि का राग कैसे होता है?

उत्तर हूँ ज्ञानी कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि के राग हुआ तो इससे क्या? उस राग के समय उसके निषेधक सम्यक् श्रद्धा और ज्ञान होते हैं या

नहीं? जो राग होता है वह श्रद्धा-ज्ञान को मिथ्या नहीं करता। ज्ञानी को चारित्र की कचास से राग होता है, वहाँ अज्ञानी उस राग को ही देखता है; परन्तु राग का निषेध करनेवाले श्रद्धा और ज्ञान को नहीं पहचानता।”

१०३. प्रश्न हूँ कदाचित् आप पूछ सकते हो कि हमें ज्ञाता-दृष्टा ही क्यों रहना है ?

उत्तर हूँ अरे भाई ! हम आप सब जीव मात्र ज्ञाता-दृष्टा ही हैं। हमारा-आपका स्वभाव ही ज्ञाता-दृष्टा रहने का है। ज्ञानी गुरु हमें अपने स्वरूप का ज्ञान करा रहे हैं। हम अपने विकल्प के अनुसार किसी में कुछ परिवर्तन कर ही नहीं सकते।

परपदार्थ में अपनी ओर से कुछ करने की भावना एवं कल्पना से ही हम अब तक दुःख भोग रहे हैं। गुरु हमें सत्य स्वरूप समझाना चाहते हैं तो भी हम अपनी हठाग्रहपूर्ण प्रवृत्ति छोड़ना ही नहीं चाहते तो अरहन्तदेव अथवा जिनवाणी माता भी क्या कर सकती है ?

श्रद्धागुण का सम्यक् परिणमन, चारित्रगुण का सम्यक् परिणमन तथा सम्यक् चारित्र का विकास एवं उसकी पूर्णता के विषय में आध्यात्मिक सत्पुरुष श्रीकानजीस्वामी के विचार इसप्रकार हैं हूँ

१०४. “प्रश्न हूँ जब श्रद्धा और चारित्र दोनों गुण स्वतंत्र हैं तब सम्यग्दर्शन के बिना चारित्र सम्यक् नहीं होता, ऐसा क्यों होता है?

उत्तर हूँ यह सच है कि गुण स्वतंत्र है; परन्तु यथार्थ श्रद्धा से भी आत्मरमणतारूप चारित्र उच्च प्रकार का धर्म परिणाम है। श्रद्धा की अपेक्षा चारित्र में विशेष पुरुषार्थ की आवश्यकता है। श्रद्धा की अपेक्षा चारित्र विशेष पूज्य है; इसलिये पहले श्रद्धा के सम्यक् रूप से पूर्ण विकसित हुए बिना चारित्रगुण विकसित हो ही नहीं सकता।

जिसमें श्रद्धा गुण के लिये अल्प पुरुषार्थ न हो उसमें चारित्र गुण के लिये अत्यधिक पुरुषार्थ कहाँ से हो सकता है? पहले सम्यक् श्रद्धा को प्रगट करने का पुरुषार्थ करने के बाद विशेष पुरुषार्थ करने पर चारित्रदशा प्रगट होती है।

श्रद्धा की अपेक्षा चारित्र का पुरुषार्थ विशेष है। इसलिये पहले श्रद्धा होती है, उसके बाद चारित्र होता है। इसलिये पहले श्रद्धा प्रगट होती है और फिर चारित्र का विकास होता है।

श्रद्धा गुण के सम्यक् स्वरूप परिणमन के साथ चारित्र गुण सम्यक् रूप से परिणत तो हो जाता है; तथापि सम्यक् चारित्र की परिपूर्णता में देर लगती है।

श्रद्धा गुण की क्षायिक श्रद्धारूप पर्याय होने पर भी ज्ञान और चारित्र में अपूर्णता होती है। इससे सिद्ध हुआ कि वस्तु में अनंत गुण हैं और वे सब स्वतंत्र हैं; वही अन्यत्व भेद है।

ज्ञानी के चारित्र दोष के कारण राग-द्वेष होते हैं; तथापि उसे अन्तरंग में निरन्तर यह समाधान बना रहता है कि हूँ यह राग-द्वेष पर वस्तु के परिणमन के कारण नहीं; किन्तु मेरे दोष से होते हैं, तथापि वह मेरा स्वरूप नहीं है। मेरी पर्याय में राग-द्वेष होने से पर में कोई परिवर्तन नहीं होता; ऐसी प्रतीति होने से ज्ञानी के राग-द्वेष का स्वामित्व नहीं रहता और ज्ञातृत्व का अपूर्व निराकुल संतोष हो जाता है।

केवलज्ञान होने पर भी अरिहन्त भगवान के प्रदेशत्व गुण की और ऊर्ध्वगमन स्वभाव की निर्मलता नहीं है; इसीलिये वे संसार में हैं। अघातिया कर्मों की सत्ता के कारण अरिहन्त भगवान के संसार हो; सो बात नहीं है; किन्तु अन्यत्व नामक भेद होने के कारण अभी प्रदेशत्व आदि गुण का विकार है; इसीलिये वे संसार में हैं।

जैसे हूँ सम्यग्दर्शन होने पर चारित्र (पूर्ण) नहीं हुआ तो वहाँ अपने

चारित्रगुण की पर्याय में दोष है, श्रद्धा में दोष नहीं। चारित्र सम्बन्धी दोष अपने पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण है, कर्म के कारण वह दोष नहीं है।

इसीप्रकार केवलज्ञान के होने पर भी प्रदेशत्व सत्ता और योग सत्ता में जो विकार रहता है, उसका कारण यह है कि समस्त गुणों में अन्यत्व नामक भेद है।

प्रत्येक पर्याय की सत्ता स्वतंत्र है। द्रव्य-गुण की भी सत्ता स्वतंत्र है।

यदि प्रत्येक गुण की गुणसत्ता और प्रत्येक पर्याय की पर्यायसत्ता के अस्तित्व को ज्यों का त्यों जाने तो ज्ञान सच्चा है।

निर्विकारी पर्याय अथवा विकारी पर्याय भी स्वतंत्र पर्यायसत्ता है। उसे ज्यों का त्यों जानना चाहिये। जीव, विकार भी पर्याय में स्वतंत्र रूप से करता है, उसमें भी अपनी पर्याय का दोष कारण है।

प्रत्येक द्रव्य-गुण-पर्याय की सत्ता स्वतंत्र है, तब फिर कर्म की सत्ता आत्मा की सत्ता में क्या कर सकती है? कर्म और आत्मा की सत्ता में तो प्रदेश भेद स्पष्ट है। दो वस्तुओं में सर्वथा पृथक्त्व भेद है।

यहाँ यह बताया गया है कि एक गुण के साथ दूसरे गुण का पृथक्त्व भेद न होने पर भी उनमें अन्यत्व भेद है। इसलिये एक गुण की सत्ता में दूसरे गुण की सत्ता नहीं है।

प्रदेश भेद न होने से अभेद है और गुणगुणी की अपेक्षा से भेद है। कोई भी दो वस्तुयें लीजिये, उन दोनों में प्रदेशभेद हैं; किन्तु एक वस्तु में जो अनन्त गुण हैं उन गुणों में एक दूसरे के साथ अन्यत्व भेद है, किन्तु पृथक्त्व भेद नहीं है।

इन दो प्रकार के भेदों के स्वरूप को समझ लेने पर अनन्त परद्रव्यों का अहंकार दूर हो जाता है और पराश्रयबुद्धि दूर होकर स्वभाव की दृढ़ता हो जाती है। सच्ची श्रद्धा होने पर समस्त गुणों को स्वतंत्र मान लिया जाता है। पश्चात् समस्त गुण शुद्ध हैं, ऐसी प्रतीति पूर्वक जो

विकार होता है उसका भी मात्र ज्ञाता ही रहता है।

अर्थात् उस जीव को विकार और भव के नाश की प्रतीति हो गई है। समझ का यही अपूर्व लाभ है। प्रवचनसार शास्त्र के ज्ञेय अधिकार में द्रव्य-गुण-पर्याय का वर्णन है। प्रत्येक गुण-पर्याय ज्ञेय हैं, अर्थात् अपने समस्त गुण-पर्याय का और अभेद स्वद्रव्य का ज्ञाता हो गया, यही सम्यग्दर्शन धर्म है।”^१

१०५. प्रश्न हूँ हमारे दिमाग में एक विचित्र एवं विशेष ही प्रश्न उत्पन्न हुआ है। हम इस प्रश्न को उपस्थित किए बिना बहुत आकुलित हैं, अतः हम पूछ ही लेते हैं। आप हमें समझाने का कष्ट करें।

जैसे सम्यक्त्व उत्पन्न होते ही ज्ञान, चारित्र आदि सम्यक् रूप से तो परिणत हो जाते हैं; तथापि उनमें सिद्ध भगवान जैसी पूर्णता नहीं होती।

यदि सम्यक्त्व होते ही जीव को सिद्धावस्था की ही प्राप्ति हो जाय तो क्या बाधा है ?

उत्तर हूँ आपके प्रश्न से ऐसा लगता है कि सम्यक्त्व होते ही सिद्धावस्था प्राप्त तो हो सकती है, किन्तु हम ही उसे रोक रहे हैं।

श्रद्धा की सम्यक्त्वरूप पर्याय जिसतरह पूर्णता के साथ ही उत्पन्न होती है अर्थात् सम्यक्त्व की उत्पत्ति और उसकी पूर्णता हूँ दोनों एक साथ ही होते हैं।

उसीतरह सम्यक्चारित्र की उत्पत्ति और सिद्धावस्थायोग्य चारित्र एक साथ प्रगट होना चाहिए हूँ ऐसा आपका विचार है। सम्यक्चारित्र की पूर्णता को आप क्रम से नहीं चाहते।

सम्यक्त्व की उत्पत्ति के साथ ही यदि सिद्धावस्था की प्राप्ति होती है हूँ ऐसा मान लिया जाय तो निम्न प्रकार अनेक आपत्तियाँ आयेगी, जिनका निवारण करना संभव नहीं होगा।

१. जिन-जिन जीवों को सम्यक्त्व होगा, उन सबको सिद्धावस्था तत्काल मिलेगी अर्थात् नारकी, देव, भोगभूमिज मनुष्य-तिर्यच, स्वयंभूरमण समुद्र में स्थित सभी तिर्यचों को सम्यक्त्व उत्पन्न होते ही तत्काल सिद्धावस्था की प्राप्ति होगी।
२. मनुष्यगति से मोक्ष प्राप्ति होगी, यह नियम नहीं रहेगा।
३. जन्म से जो स्त्री या नपुंसक हैं, वे सम्यक्त्व प्राप्त करेंगे और स्त्री या नपुंसक शरीर के साथ दिगंबर मुनि हुए बिना ही सिद्ध भी होते रहेंगे।
४. चौदह गुणस्थान के स्थान पर मात्र एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही रहेगा। अन्य गुणस्थानों की क्रमिक परिपाटी का अभाव ही हो जाएगा।
५. परमेष्ठी पाँच न रहकर एक सिद्ध परमेष्ठी ही रहेंगे।
६. अरहंत अवस्था प्राप्त न होने के कारण दिव्यध्वनि से उपदेश मिलना समाप्त हो जायेगा। अरहंत परमेष्ठी का अभाव होगा।
७. आचार्य, उपाध्याय व साधु अवस्था का अस्तित्व न रहने से तीनों परमेष्ठी नहीं रहेंगे। अरहंत तो रहेंगे ही नहीं। पंच णमोकार मंत्र भी 'णमो सिद्धाणं' इस एक पंक्ति का ही रहेगा।
८. कोई मुनिराज रहेंगे नहीं तो आहारदान देने का कार्य बंद हो जायेगा। चरणानुयोग का मानो अभाव ही हो जायेगा।
९. सम्यक्त्व होते ही सिद्ध बनने से सम्यक्त्वी अथवा व्रती श्रावक, मुनिराज एवं अरहंत द्वारा उपदेश की परंपरा ही नष्ट हो जायेगी। देशना एवं देशनालब्धि का भी अभाव हो जायेगा।
१०. सम्यक्त्व होते ही सिद्ध होने से श्रावकव्रत एवं मुनिराज के व्रतों का कथन करने का कारण न रहने से व्रत, उपवास, परीषह, उपसर्ग, अतिचार आदि का अभाव ही हो जायेगा। व्यवहार चारित्र का सर्वथा लोप हो जायेगा।
११. सम्यक्त्वी को तत्काल ही सिद्ध अवस्था प्राप्त होने से सम्यग्दृष्टि

- को पुण्य से होनेवाले चक्रवर्ती, कामदेव आदि महापुरुष के अलौकिक पदों की प्राप्ति नहीं हो सकेगी।
१२. सम्यग्दृष्टि को तीर्थंकर प्रकृति का बंध होता है, यह कार्य न होने से पंच कल्याणक पूर्वक तीर्थंकर बनना असंभव होगा।
 १३. सम्यग्दृष्टि के भोग निर्जरा के कारण होते हैं, यह उपचरित कथन करना नहीं बनेगा; क्योंकि सम्यग्दृष्टि भोग भोगने के लिए रहेगा ही नहीं, वह तो मुक्त ही हो जायेगा।
 १४. सम्यग्दृष्टि को स्त्री व नपुंसक पर्याय की प्राप्ति नहीं होती, इस आगम वचन की आवश्यकता नहीं रहेगी। यह आगम वचन व्यर्थ सिद्ध होगा।
 १५. प्रथमानुयोग में इस जीव ने सम्यक्त्व के साथ जन्म लिया, इसतरह हजारों स्थानों पर आये हुए सर्व कथन असत्य सिद्ध होंगे।
 १६. सम्यग्दृष्टि, व्रती श्रावक एवं मुनिराज को भी अपनी-अपनी भूमिकानुसार दसवें गुणस्थान पर्यंत साम्परायिक आस्रवपूर्वक नया कर्मबंध होता है, यह शास्त्र-वचन असत्य सिद्ध होगा।
 १७. उपशम एवं क्षपक श्रेणी का सब कथन निरर्थक ठहरेगा।
 १८. साधक व सिद्ध अवस्था हूँ इन दोनों अवस्थाओं का भिन्न-भिन्न अस्तित्व नहीं रहेगा। इसकारण साधक अवस्था में मिश्रधारा (राग धारा व वीतराग धारा अथवा कर्मधारा व ज्ञानधारा) नहीं रहेगी। साधक अवस्था का ही अभाव होगा अथवा साधकपना मात्र एक समय की ही रहेगी।
 १९. इस मिश्रधारा में एक ही काल में आस्रव-बंध तथा संवर-निर्जरा चारों तत्त्वों का अस्तित्व बना रहता है; सम्यक्त्व होते ही सिद्ध अवस्था होने से यह कार्य नहीं बन पायेगा।
 २०. संवर व निर्जरा इन दोनों तत्त्वों का अस्तित्व ही नहीं रहेगा; सात

- तत्त्वों के स्थान पर जीव, अजीव, आस्रव, बंध एवं मोक्ष हूँ ये ५ ही तत्त्व रहेंगे ।
२१. औपशमिक आदि सम्यक्त्व के काल की प्ररूपणा व्यर्थ सिद्ध होगी । प्रथम औपशमिक सम्यक्त्व होता है, क्षायोपशमिक सम्यक्त्वपूर्वक क्षायिक सम्यक्त्व उत्पन्न होता है, यह सब कथन व्यर्थ सिद्ध होगा ।
२२. सम्यक्त्व प्राप्ति के बाद सम्यक्त्व छूटने पर वह जीव अधिक से अधिक किंचित् न्यून अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल तक संसार में रुलता है; यह आगम-कथित नियम व्यर्थ सिद्ध होगा ।
२३. नौ अनुदिश तथा पंच अनुत्तर विमानों में मात्र सम्यग्दृष्टि जन्मते हैं, यह कथन असत्य होगा । अथवा उन स्वर्गों का अभाव मानना होगा ।
२४. दिगम्बर अवस्था से ही मुक्ति-प्राप्ति का नियम नहीं रहेगा, सवस्त्र मुक्ति होती रहेगी ।
गृहस्थ भी मुक्त होते रहेंगे ।
२५. अन्तरंग एवं बहिरंग तप का अस्तित्व ही नहीं रहेगा ।
२६. अरहंत अवस्था का अभाव होने से उपसर्ग केवली आदि केवलियों के भेद भी नहीं रहेंगे ।
२७. दिव्यध्वनि का अभाव मानने से गणधर की आवश्यकता नहीं रहेगी । सम्यग्दृष्टि एवं मुनिराज का भी उपदेश देनेरूप कार्य नहीं रहेगा; क्योंकि वे तत्काल सिद्ध ही बनेंगे, उपदेश देने के लिए संसार में निवास बनेगा ही नहीं ।
२८. असंख्यात गुणी निर्जरा का कथन भी नहीं बनेगा ।
२९. मोक्षमार्ग की साधक अवस्था में होनेवाले भिन्न साध्य-साधन और अभिन्न साध्य-साधन का अभाव का प्रसंग प्राप्त होगा; क्योंकि मोक्षमार्ग और मोक्ष एक ही समय में मान लिया गया ।

सम्यक्त्व प्राप्त होते ही मुक्ति मानने से मोक्षमार्ग के लिए समय ही नहीं रहेगा । इस तरह व्यवहार निश्चय तीर्थ परम्परा का अभाव होगा ।

१०६. प्रश्न हूँ सम्यक्त्व होते ही तत्काल अर्थात् उसी समय सिद्ध अवस्था होती है; ऐसा मानने पर आपने अनेक उपर्युक्त आपत्तियाँ बताई । आप और भी आपत्तियाँ बता सकते हो क्या? हम समझना चाहते हैं ।

उत्तर हूँ सम्यक्त्व होते ही तत्काल सिद्ध अवस्था होती है; ऐसा मानने पर और भी अनेक आपत्तियाँ आती हैं, वे इसप्रकार हैं हूँ

१. यदि सम्यक्त्व होते ही सिद्ध होना मानेंगे तो जीव को मात्र औपशमिक सम्यक्त्व ही होगा; अन्य अर्थात् क्षायोपशमिक, द्वितीयोपशम एवं क्षायिक हूँ इन तीनों सम्यक्त्वों का अभाव मानना पड़ेगा ।
२. क्षायोपशमिक सम्यक्त्वपूर्वक क्षायिक सम्यक्त्व होता है, यह कथन नहीं बनेगा ।
३. चत्वारि मंगलं आदि पाठ असत्य सिद्ध होंगे ।
४. दर्शनमोहनीय कर्म के उपशम के साथ ही चारित्रमोहनीय तथा अन्य तीन घातिकर्म एवं चारों अघाति कर्मों का नाश मानना अनिवार्य सिद्ध होगा ।

अथवा

आठ कर्मों के स्थान पर मात्र एक ही दर्शनमोहनीय कर्म मानना आवश्यक रहेगा । दर्शनमोहनीय कर्म के तीनों भेदों का कथन भी असत्य सिद्ध होगा ।

५. तीनों सम्यक्त्व में से सर्वप्रथम औपशमिक सम्यक्त्व ही होता है, यह आगमोक्त नियम नहीं रह पायेगा ।
६. क्षायोपशमिक-ज्ञान पूर्वक ही सिद्ध अवस्था प्राप्त होगी; केवलज्ञान की अनिवार्यता नहीं रहेगी ।
७. सम्यक्त्व एवं व्रतों के अतिचारों का सर्वथा अभाव होगा ।
८. तत्त्वार्थसूत्र और अन्य आगम ग्रन्थों में सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि

मोक्षमार्ग: ऐसा जो सूत्र है, वह असत्य/निरर्थक होने से सम्यग्दर्शनम्

मोक्षमार्ग: ऐसा बदलना पड़ेगा।

इसप्रकार अनेक आपत्तियाँ आयेगी। ऊपर हमने कुल मिलाकर ३७ आपत्तियाँ गिनाकर दिखा दी हैं।

अतः चारित्र गुण का सम्यक् परिणामन होने के बाद चारित्र की पूर्णता के लिए उसमें क्रमिक विकास मानना आवश्यक व उपयोगी ही है।

वास्तविक जो वस्तुस्थिति है, उसे वैसा ही आगम प्रमाण से मानना चाहिए।

१०७. प्रश्न हूँ आप सम्यक्चारित्र में विकास क्रम से ही होता है, ऐसा बता रहे हो; तथापि हमें शंका यह होती है कि कभी-कभी द्रव्यलिंगी मुनी अवस्था के साधक प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान से चौथे गुणस्थानयोग्य चारित्र प्रगट करते हैं, कभी पाँचवें गुणस्थानयोग्य तो कभी सातवें गुणस्थान-योग्य चारित्र प्रगट करते हैं हूँ ऐसी स्थिति में चारित्र में विकास क्रम से ही होता है, यह कथन बाधित हुआ; यहाँ हमें क्या समझना चाहिए?

उत्तर हूँ आपको शंका होना स्वाभाविक है; क्योंकि प्रथम गुणस्थानवर्ती द्रव्यलिंगी मुनिराज को चारित्र की प्राप्ति के क्रम में आगमानुसार व आपके कहने के अनुसार हो सकता है।

श्रावक अवस्था के साथ चारित्र में विकास करनेवाले साधक को प्रथम चौथे गुणस्थानयोग्य चारित्र होगा। तदनंतर वह बुद्धिपूर्वक देशव्रतों के ग्रहण के साथ पंचम गुणस्थान-योग्य देशचारित्र प्रगट कर सकता है। इसके बाद मुनिव्रतों के स्वीकार पूर्वक सातवें गुणस्थानयोग्य चारित्र विकसित करने का कार्य हो सकता है। यहाँ तो चारित्र क्रम से विकसित होता है, (विशुद्धि बढ़ती है) ऐसा सामान्य कथन यथार्थ हैं।

जब द्रव्यलिंगी मुनिराज को प्रथम गुणस्थान से सीधा सातवें

गुणस्थान- योग्य चारित्र प्रगट होगा, वहाँ चारित्र क्रम से विकसित होने की बात नहीं बन पाती।

इसका अर्थ सातवें गुणस्थान पर्यंत चारित्र क्रम से भी विकसित होगा और कदाचित् अक्रम से भी होगा; ऐसा स्वीकारना आगमानुसार सत्य है।

सातवें गुणस्थान के बाद तो चारित्र में विकास अर्थात् विशुद्धि क्रम से ही मानना चाहिए; क्योंकि आगे-आगे के गुणस्थान की प्राप्ति नियम से क्रम से ही होती है; वहाँ किसी गुणस्थान को बीच में छोड़कर पूर्ण वीतरागी एवं सर्वज्ञ अथवा सिद्ध होने की बात नहीं है।

१०८. प्रश्न हूँ क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ मुनिराज ग्यारहवें गुणस्थान को छोड़कर ही तो बारहवें गुणस्थान को प्राप्त करते हैं। इसलिए आपका “गुणस्थान को न छोड़ने” की बात असत्य सिद्ध हो जाती है।

उत्तर हूँ नहीं, आपका सोचना आगमानुसार सत्य नहीं है; क्योंकि क्षपक मुनिराज के पुरुषार्थ के क्रम में उपशांत मोह नामक यह गुणस्थान आता ही नहीं, वह तो उपशमक मुनिराज को सहज प्राप्त होनेयोग्य गुणस्थान है और क्षपक मुनिराज को दसवें गुणस्थान के बाद बारहवाँ क्षीणमोह गुणस्थान स्वाभाविक ही उनके पुरुषार्थ से एवं मोहनीय कर्म के क्षयपूर्वक प्राप्त होनेवाला स्थान/गुणस्थान है। अतः यह विषय स्पष्ट है कि सातवें गुणस्थान के बाद चारित्र में विकास नियमपूर्वक क्रम से ही होता है।

१०९. प्रश्न हूँ आपने ऊपर के प्रश्न में तथा उत्तर में भी छठवें गुणस्थान को छोड़ ही दिया; क्या आपको छठवाँ गुणस्थान को स्वीकार करने में कुछ आपत्ति है? स्पष्ट करें।

उत्तर : हमें छठवें गुणस्थान को मानने में कुछ आपत्ति नहीं है। सर्वज्ञ भगवान के द्वारा कथित वस्तु-व्यवस्था के अनुसार विषय को स्वीकारने में कहाँ की आपत्ति, कैसी आपत्ति?

मुनि जीवन में प्रथम अप्रमत्त सातवें गुणस्थान की प्राप्ति होती है, तदनंतर वहाँ से गिरकर छठवें प्रमत्तविरत गुणस्थान की प्राप्ति होती है; ऐसा कथन सर्वज्ञ भगवान के उपदेश में आया है। इसलिए हमने छठवें गुणस्थान का कथन नहीं किया।

वास्तविक स्वरूप से वस्तुस्वरूप को देखा जाय तो छठवाँ गुणस्थान भी भावलिङ्गी मुनिराज का ही गुणस्थान है। वहाँ भी तीन कषाय चौकड़ी के अभावपूर्वक वीतराग धर्म (शुद्धपरिणतिरूप) प्रगट रहता है, भावलिङ्गपना व्यक्त है। अतः हमें ह्व आपको/सभी आगमाभ्यासियों को छठवाँ प्रमत्तविरत गुणस्थान को स्वीकार करने में किधर से भी कुछ आपत्ति अथवा अरुचि नहीं है।

वस्तुस्वरूप यह है कि छठवाँ-सातवाँ ये दोनों गुणस्थान तो भिन्न-भिन्न हैं; परन्तु छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलनेवाले मुनिराज दो नहीं है, एक ही हैं। जो मुनिराज संज्वलन कषायकर्म के तीव्रोदय निमित्त ध्यानस्वरूप अप्रमत्त गुणस्थान में पुरुषार्थहीनता से स्थिर नहीं हो पाने से छठवें गुणस्थान में आते हैं। जब वे ही छठवें गुणस्थानवर्ती मुनिराज आत्मस्थिरता के पुरुषार्थ से एवं संज्वलन कषायकर्म के मंदोदय से ध्यानारूढ़ हो जाते हैं तब उन्हें अप्रमत्त विरत नामक सातवाँ गुणस्थान प्राप्त होता है। जिसने छठवें-सातवें गुणस्थानों में से किसी एक गुणस्थान का स्वीकार किया तो उन्होंने दोनों गुणस्थानों का स्वीकार किया है ह्व ऐसा समझना यथार्थ है।

उपर्युक्त कथन से चारित्र परिणाम (वीतरागता) में जो विकास/विशुद्धि होती है, वह मुख्यरूप से तो क्रम से ही होती है। चारित्र में अक्रम से विकास का विषय गौण है; तथापि वह विषय भी सर्वज्ञ प्रणीत होने से हमें स्वीकारना ही चाहिए।

११०. प्रश्न ह्व हम तो सम्यक्चारित्र गुणस्थानानुसार क्रम से वृद्धिगत होते हुए पूर्ण होता है; ऐसा ही शास्त्रानुसार मानते हैं। आप व्यर्थ ही

सम्यग्दर्शन के साथ ही चारित्र पूर्ण हो जाये; सिद्धावस्था हो जाय तो क्या-क्या आपत्तियाँ आ जायेंगी? ऐसा प्रश्न उपस्थित करके स्वयं भी व्यर्थ के विकल्पों को उत्पन्न करके परेशान हो रहे हो और हमें भी विचार करने के लिए बाध्य कर रहे हो। इसके बदले शास्त्र में जैसा कथन आया है, वैसा ही मान लो ना, क्या आपत्ति है?

उत्तर ह्व कुछ आपत्तियाँ नहीं हैं। आपका कहना सही है। हमें भी शास्त्र की ही बात मनवाना है। परीक्षा करके शास्त्र सम्मत बात मान्य हो जाय तो श्रद्धा भी यथार्थ होती है और ज्ञान में भी परिपक्वता आती है। इसी अभिप्राय से प्रश्न उपस्थित करके सविकल्प ज्ञान में विचार करना/चिंतन करना अनिवार्य किया है और शास्त्र के विषय की श्रद्धा कराने का प्रयास किया है।

न हम हैरान हो गये हैं न आपको हम परेशान करना चाहते हैं। यह तो परीक्षा करके सविकल्पज्ञान में निशंकपना की प्राप्ति के लिए तत्त्व चिंतन का एक तरीका है और कुछ नहीं।

१११. प्रश्न ह्व फिर भी मन में एक प्रश्न उत्पन्न होता ही है कि चारित्र का विकास एवं पूर्णता क्रम से ही क्यों होती है ?

उत्तर ह्व भाई ! चारित्र गुण के सम्यक्पर्याय का विकास एवं पूर्णता क्रम से ही होती है; यह चारित्रगुण की पर्यायगत विशेषता है; उसमें कौन क्या कर सकता है?

स्वभाव में प्रश्न नहीं होते। पानी शीतल क्यों है ? अग्नि गरम क्यों है ? गन्ने का रस मीठा क्यों है ? करेला कड़वा क्यों है ? ह्व क्या ऐसे भी प्रश्न करना उचित है ?

हम आपसे पूछते हैं ह्व कपड़े को पानी में डालते ही वह कुछ सैकण्डों में गीला हो जाता है, क्या वही गीला कपड़ा उतने ही अल्प काल में सूख जायेगा ? चाहे कितनी भी गरमी हो, नहीं सूखेगा; क्योंकि कपड़े का गीला होना तत्काल होता है और गीले कपड़े को

सूखने के लिए देर लगती ही है। यह स्वभावगत विशेषता है। अन्य दृष्टान्त भी देखें ह

मनुष्य शरीर में जन्म से ही जिह्वा/जीभ प्राप्त होती है और दाँत जन्म से तो रहते नहीं हैं। जन्म के पश्चात् ११-१२ महिने के बाद दाँत आते हैं। उसे दूध के दाँत कहते हैं। वे भी निकल जाते हैं, फिर जीवनभर के लिए दाँत आते हैं। सामान्यतया २०-२१ वर्ष की उम्र में अक्लदाढ़ आती है। कदाचित् दाँत वृद्धावस्था के पहले भी गिर जाते हैं, लेकिन जीभ अन्त तक रहती है। जीभ एवं दाँत का ऐसा स्वरूप क्यों है? उसका उत्तर शरीरगत स्वभाव ही मानना आवश्यक है।

- उसीतरह श्रद्धा गुण की सम्यक्स्वरूप पर्याय की उत्पत्ति एवं उसकी पूर्णता एकसाथ ही होती है।
- १३वें गुणस्थान में ज्ञान गुण की पर्याय की पूर्णता होती है।
- बारहवें गुणस्थान में चारित्र (भाव चारित्र) पूर्ण प्रगट होता है।
- सिद्ध अवस्था में द्रव्यचारित्र की पूर्ण अवस्था प्रगट होती है। यही इन तीनों गुणों के पूर्ण पर्याय प्रगट होने का स्वरूप है।

सम्यक्चारित्र की पूर्ण विकसित अवस्था एवं उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक वस्तुव्यवस्था को लेकर आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी के विचार हम आगे दे रहे हैं ह

“चारित्र की शुद्धता एकसाथ संपूर्ण प्रगट नहीं हो जाती; किन्तु क्रमशः प्रगट होती है। जबतक शुद्ध दशा अपूर्ण रहती है, तबतक साधकदशा कहलाती है।

११२. प्रश्न ह शुद्धता कितनी प्रगट होती है?

उत्तर ह पहले सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान से जो आत्मस्वभाव प्रतीति में आया है, उस स्वभाव की महिमा के द्वारा वह जितने बलपूर्वक स्वद्रव्य में एकाग्रता करता है, उतनी ही शुद्धता प्रगट होती है।

शुद्धता की प्रथम सीढ़ी शुद्धात्मा की प्रतीति अर्थात् सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन के बाद पुरुषार्थ के द्वारा क्रमशः स्थिरता को बढ़ाकर अन्त में पूर्ण स्थिरता के द्वारा पूर्ण शुद्धता प्रगट करके मुक्त हो जाता है। सिद्धदशा में अक्षय अनन्त आत्मसुख का अनुभव करता है।

मिथ्यात्व का त्याग करके सम्यग्दर्शन प्रगट करने का ही यह फल है।

११३. प्रश्न ह द्रव्य त्रिकाल स्थिर रहनेवाला है, उसका कभी नाश नहीं होता और वह कभी भी दूसरे द्रव्यों में नहीं मिल जाता, इसका क्या आधार है? ऐसा क्यों विश्वास किया जाय?

हम देखते हैं कि दूध इत्यादि अनेक वस्तुओं का नाश हो जाता है; अथवा दूध (वस्तु) मिटकर दही (वस्तु) बन जाता है, तब फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में नहीं मिलता?

उत्तर ह वस्तुस्वरूप का ऐसा सिद्धान्त है कि जो वस्तु है, उसका कभी भी नाश नहीं होता, और जो वस्तु नहीं है, उसकी उत्पत्ति नहीं होती तथा जो वस्तु है उसमें रूपान्तर होता रहता है। अर्थात् स्थिर रहकर बदलना (Parmanency with a change) (और बदलकर भी स्थिर रहना) वस्तु का स्वरूप है।

शास्त्रीय भाषा में इस नियम को “उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्” के रूप में कहा गया है। उत्पाद-व्यय का अर्थ है अवस्था (पर्याय) का रूपान्तर और ध्रौव्य का अर्थ है वस्तु का स्थिर रहना ह यह द्रव्य का स्वभाव है।

द्रव्य और पर्याय के स्वरूप में यह अन्तर है कि द्रव्य त्रिकाल स्थिर है, वह बदलता नहीं है; किन्तु पर्याय क्षणिक है, वह प्रतिसमय बदलती रहती है। पर्याय के बदलने पर भी द्रव्य का नाश नहीं होता। द्रव्य अपने स्वरूप में त्रिकाल स्थिर है, इसलिये वह दूसरे में कभी नहीं मिलता। इसे अनेकान्तस्वरूप कहा जाता है। अर्थात् वस्तु अपने स्वरूप से है और दूसरे के स्वरूप की अपेक्षा से नहीं है।

जैसे हल लोहा, लोहे के स्वरूप की अपेक्षा से है; किन्तु वह लकड़ी के स्वरूप की अपेक्षा से नहीं है। जीव, जीवस्वरूप से है; किन्तु वह जड़स्वरूप से नहीं है। ऐसा स्वभाव है। इसलिये कोई वस्तु अन्य वस्तु में नहीं मिल जाती; किन्तु सभी वस्तुएँ अपने-अपने स्वरूप से भिन्न ही रहती हैं।

जीव, अपने वस्तुस्वरूप से स्थिर रहकर पर्याय की अपेक्षा से बदलता रहता है; किन्तु जीव, जीवरूप में ही बदलता है।

जीव की अवस्था बदलती रहती है। इसीलिये संसारदशा का नाश करके सिद्ध दशा हो सकती है। अज्ञानदशा का नाश करके ज्ञानदशा हो सकती है।

जीव नित्य है, इसलिये संसारदशा का नाश हो जाने पर भी वह मोक्षदशारूप में स्थिर बना रहता है। इसप्रकार वस्तु को द्रव्य अपेक्षा से नित्य और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य समझना चाहिये।

परमाणु में भी उसकी अवस्था बदलती है; किन्तु किसी वस्तु का नाश नहीं होता। दूध इत्यादि का नाश होता हुआ दिखता है; किन्तु वास्तव में वह वस्तु का नाश नहीं है।

दूध कहीं मूल वस्तु नहीं है; किन्तु वह तो बहुत से परमाणुओं की स्कन्धरूप अवस्था है और वह अवस्था बदलकर अन्य दही इत्यादि अवस्थारूप हो जाती है, किन्तु उसमें परमाणु-वस्तु तो स्थिर ही बनी रहती है।

दूध बदलकर दही हो जाता है, इसलिये वस्तु अन्यरूप नहीं हो जाती। परमाणु वस्तु है; वह तो सभी अवस्थाओं में परमाणुरूप ही रहता है। वस्तु कभी भी अपने स्वरूप को नहीं छोड़ती। श्रीमद् राजचन्द्र ने आत्मसिद्धि छंद ७० में कहा है ह

क्यारे कोई वस्तुनो, केवल होय न नाश।

चेतन पामे नाश तो, केमां मळे तपास?।।

जड़ अथवा चेतन किसी भी वस्तु का कभी सर्वथा नाश नहीं होता। यदि ज्ञानस्वरूप चेतन वस्तु नाश को प्राप्त हो तो वह किसमें जाकर मिलेगी?

चेतन का नाश होकर क्या वह जड़ में घुस जाता है? ऐसा कदापि नहीं हो सकता। इसलिये यह स्पष्ट है कि चेतन सदा चेतनरूप परिणमित होता है और जड़ सदा जड़रूप परिणमित होता है; किन्तु वस्तु का कभी नाश नहीं होता।

पर्याय के बदलने पर वस्तु का नाश मान लेना अज्ञान है; और यह मानना भी अज्ञान है कि वस्तु की पर्याय को दूसरा बदलवाता है।

वस्तु कभी भी बिना पर्याय के नहीं होती, और पर्याय कभी भी वस्तु के बिना नहीं होती।

जो अनेक प्रकार की अवस्थायें होती हैं, वे नित्य स्थिर रहनेवाली वस्तु के बिना नहीं हो सकती। यदि नित्य स्थिर रहने वाला पदार्थ न हो तो अवस्था कहाँ से आये?

दूध, दही, मक्खन, घी इत्यादि सब अवस्थायें हैं, उसमें नित्य स्थिर रहने वाली मूल वस्तु परमाणु है। दूध इत्यादि पर्याय है, इसलिये वह बदल जाती है; किन्तु किसी भी अवस्था में परमाणु अपने परमाणुपन को नहीं छोड़ता, क्योंकि वह वस्तु है हल द्रव्य है।

- द्रव्य का अर्थ है वस्तु।
- वस्तु की अवस्था को पर्याय कहते हैं।
- द्रव्य अंशी (संपूर्ण वस्तु) है और पर्याय उसका एक अंश है।
- अंशी को सामान्य कहते हैं और अंश को विशेष कहते हैं।
- वस्तु सामान्य-विशेषात्मक है।
- सामान्य-विशेष के बिना कोई सत् पदार्थ नहीं होता।

- सामान्य ध्रुव है और विशेष उत्पाद-व्यय हैं ह “उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्” ।
- जो वस्तु एक समय में है, वह वस्तु त्रिकाल है; क्योंकि वस्तु का नाश नहीं होता; किन्तु वस्तु का रूपान्तर होता है ।
- वस्तु अपनी शक्ति से (सत्ता से-अस्तित्व से) स्थिर रहती है, उसे कोई पर वस्तु सहायक नहीं होती ।
- यदि इसी नियम को सरल भाषा में कहा जाये तो ह एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ भी नहीं कर सकता ।

११४. प्रश्न ह यह सब किसलिए समझना चाहिये?

उत्तर ह अनादिकाल से चले आ रहे अनन्त दुःख के नाश के लिए एवं महापापरूप मिथ्यात्व को दूर करने के लिए यह सब समझना आवश्यक है ।

यह समझ लेने पर आत्मस्वरूप की यथार्थ पहिचान हो जाती है और सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाता है तथा सच्चा सुख प्रगट हो जाता है । इसलिये इसे भलीभाँति समझने का प्रयत्न करना चाहिए ।”^१

११५. प्रश्न ह साधक जीवन में मिश्रधारा होती है, ऐसा आपने बताया; इसके लिए कुछ शास्त्र-आधार भी हैं क्या ?

उत्तर ह हाँ ! हाँ !! शास्त्र का आधार भी हैं, वह आधार हम आपके सामने तत्काल प्रस्तुत भी करेंगे । शास्त्र के आधार बिना हम कुछ भी कथन नहीं करते हैं ।

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक शास्त्र के सातवें अध्याय के पृष्ठ क्रमांक २२८ पर संवरतत्त्व के अन्यथारूप प्रकरण में इसका स्पष्ट उल्लेख किया है, वह इसप्रकार है ह

११६. “प्रश्न ह मुनियों के एक काल में एक भाव होता है, वहाँ

१. सम्यग्दर्शन पृष्ठ २१७-२२१

उनके बन्ध भी होता है और संवर-निर्जरा भी होते हैं, सो किस प्रकार है ?

उत्तर ह वह भाव मिश्ररूप है । कुछ वीतराग हुआ है, कुछ सराग रहा है । जो अंश वीतराग हुआ उससे संवर है और जो अंश सराग रहा उससे बन्ध है ।”^१

आचार्य अमृतचन्द्र रचित आत्मख्याति टीका में कलश ११० द्वारा मिश्रधारा का विवेचन बहुत स्पष्टरूप से किया है । अतः आगे मूल संस्कृत कलश रूप काव्य, उसका डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल कृत हिंदी पद्यानुवाद एवं पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा द्वारा लिखित अर्थ एवं भावार्थ ह सब दे रहे हैं, जिससे आपकी शंका का समाधान हो जायेगा ।

(शार्दूलविक्रीडित)

“यावत्पाकमुपैति कर्मविरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ् न सा कर्मज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित्क्षतिः । किन्त्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत्कर्म बंधाय तन् मोक्षाय स्थितमेकमेव परमं ज्ञानं विमुक्तं स्वतः ॥ (हरिगीत)

यह कर्मविरति जबतलक ना पूर्णता को प्राप्त हो । हाँ, तबतलक यह कर्मधारा ज्ञानधारा साथ हो ॥ अवरोध इसमें है नहीं पर कर्मधारा बंधमय । मुक्तिमार्ग एक ही है, ज्ञानधारा मुक्तिमय ॥

अर्थ ह जबतक ज्ञान की कर्मविरति भलीभाँति परिपूर्णता को प्राप्त नहीं हो, तबतक कर्म और ज्ञान का एकत्रितपना शास्त्र में कहा है; उसके एकत्रित रहने में कोई भी क्षति या विरोध नहीं है ।

यहाँ इतना विशेष जानना चाहिये कि आत्मा में अवशपने जो कर्म प्रगट होता है, वह तो बन्ध का कारण है और जो एक परम ज्ञान है, वह मोक्ष का कारण है ह जो कि स्वतः विमुक्त है अर्थात् तीनों काल

१. मोक्षमार्गप्रकाशक पृष्ठ-२२८

परद्रव्य-भावों से भिन्न है।

भावार्थ ह्व जबतक यथाख्यात चारित्र (प्रगट) नहीं होता तबतक सम्यग्दृष्टि की दो धाराएँ रहती हैं ह्व शुभाशुभ कर्मधारा और ज्ञानधारा। उन दोनों के एक साथ रहने में कोई विरोध भी नहीं है। (जैसे मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञान के परस्पर विरोध है, वैसे कर्मसामान्य और ज्ञान के विरोध नहीं है।) ऐसी स्थिति में **कर्म अपना कार्य करता है और ज्ञान अपना कार्य करता है।**

जितने अंश में शुभाशुभ कर्मधारा है, उतने अंश में कर्मबन्ध होता है और जितने अंश में ज्ञानधारा है, उतने अंश में कर्म का नाश होता जाता है। विषय-कषाय के विकल्प, व्रत-नियम के विकल्प अथवा शुद्ध-स्वरूप का विचार तक भी कर्मबन्ध का कारण है, शुद्ध परिणतिरूप (शुद्धोपयोग) ज्ञानधारा ही मोक्ष का कारण है।^१

इस विषय पर आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी का विशेष विवेचन पढ़ना चाहिए, जो प्रवचन रत्नाकर में छप चुका है। कलशामृत भाग-४ गुजराती भाषा में भी इस ११० कलश पर अधिक विस्तारपूर्वक खुलासा आया है।

पण्डित दीपचन्दजी कृत अनुभव प्रकाश ग्रंथ में मिश्रधर्म अधिकार है, उस पर भी श्री स्वामीजी के हिन्दी भाषा में प्रवचन उपलब्ध हैं। जिज्ञासु इन सबका अध्ययन अवश्य करें।^१

इस विषय का ही विस्तृत विवेचन पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रंथ के श्लोक २१२ से २१४ में भी है। मूल श्लोक, अर्थ एवं भावार्थ इसप्रकार है ह्व

“येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।

येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥२१२॥

अर्थ ह्व इस आत्मा के जितने अंश में सम्यग्दर्शन है, उतने अंश में

१. ज्ञानधारा-कर्मधारा नामक एक किताब जो टोडरमल स्मारक ट्रस्ट से प्रकाशित हुई है।

कर्मबन्ध नहीं है तथा जितने अंश में रागभाव है, उतने ही अंश में कर्म का बन्ध है।

भावार्थ ह्व जीव के तीन भेद हैं ह्व १. बहिरात्मा, २. अन्तरात्मा, ३. परमात्मा। इन तीनों में से बहिरात्मा तो मिथ्यादृष्टि है; क्योंकि उसके सम्यग्दर्शन नहीं है, केवल रागभाव ही है; अतः सर्वथा बन्ध ही है।

- परमात्मा भगवान, जिनके पूर्ण सम्यग्दर्शन हो गया है, उनके रागभाव के अत्यन्त अभाव होने के कारण सर्वथा बन्ध नहीं है, मोक्ष ही है।
- अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टि चतुर्थ गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक है। इसलिये इस अन्तरात्मा के जितने अंश में सम्यग्दर्शन हो गया है, उतने अंश में कर्म का बंध नहीं है। (वास्तव में चारित्र ही धर्म है। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रंथ का यह प्रकरण सकल चारित्र का है। यहाँ सम्यक्चारित्र की अपेक्षा से सम्यग्दर्शन को अंशरूप कहा है।)
- चतुर्थ गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी सम्बन्धी रागभाव नहीं है तो उतना कर्मबन्ध भी नहीं है, शेष अप्रत्याख्यानावरणादि तीन का बन्ध है।
- पाँचवें गुणस्थान में अप्रत्याख्यान-रूप रागभाव का अभाव हुआ है, अतः उसका भी बंध रुक गया; परन्तु प्रत्याख्यानावरणादि दो का बन्ध अभी भी शेष है।
- छठवें-सातवें गुणस्थान में प्रत्याख्यानावरणादि सम्बन्धी रागभाव नष्ट हुआ, तब उतना बन्ध भी मिट गया है।

येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।

येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥२१३॥

अर्थ ह्व जितने अंश में जीव के सम्यग्ज्ञान हो गया है, उतने ही अंश में रागभाव का अभाव होने के कारण कर्म का बन्ध नहीं है और जितने अंश में रागभाव है, उतने ही अंश में कर्मों का बंध है।

भावार्थ ह्व मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा जीव के सम्यग्ज्ञान का अभाव है

और मिथ्याज्ञान का सद्भाव है, इसलिये उनको पूर्ण राग-द्वेष विद्यमान होने से उनके अवश्य ही कर्म-बन्ध होता है।

तेरहवें गुणस्थानवर्ती परमात्मा को पूर्ण सम्यग्ज्ञान अर्थात् केवलज्ञान प्रगट हो जाने के कारण राग-द्वेष का सर्वथा अभाव हो गया है, अतः उनके कर्मबन्ध बिल्कुल नहीं है।

अन्तरात्मा, जो अविरत सम्यग्दृष्टि नामक चतुर्थ गुणस्थान से लेकर क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थान तक है, उसके जितने अंश में सम्यग्ज्ञान प्रगट होकर जितने अंश में राग-द्वेष मिटता जाता है, उतने ही अंश में कर्मबन्ध भी नहीं है तथा जितने अंश में राग-द्वेष विद्यमान है, उतने अंश में कर्मबन्ध भी होता रहता है।

येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।

येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥२१४॥

अर्थ है जितने अंश में सम्यक्चारित्र प्रगट हो गया है, उतने ही अंश में कर्मबन्ध नहीं है और जितने अंश में राग-द्वेषभाव हैं, उतने ही अंश में कर्म का बन्ध है।

भावार्थ है बहिरात्मा के मिथ्याचारित्र है, सम्यक्चारित्र रंचमात्र भी नहीं है; अतः उसके राग-द्वेष की पूर्णता होने से पूर्ण कर्म का बन्ध है।

- परमात्मा के पूर्ण सम्यक्चारित्र होने के कारण रंचमात्र भी कर्म का बन्ध नहीं है।
- अन्तरात्मा के जितने अंश में राग-द्वेषभाव का अभाव है, उतने अंश में कर्म का बन्ध नहीं है और जितने अंश में राग-द्वेष है, उतने अंश में कर्म का बन्ध है।
- मोहनीय कर्म के दो भेद हैं ह्य दर्शनमोह, चारित्रमोह। दर्शनमोह के उदय से मिथ्यादर्शन होता है और चारित्रमोह के उदय से मिथ्याचारित्र अथवा अचारित्र होता है।

- चारित्र के भी दो भेद हैं ह्य १) स्वरूपाचरण चारित्र २) संयमाचरण चारित्र। इनमें से जघन्य स्वरूपाचरण चारित्र तो चतुर्थ गुणस्थान में प्रगट होता ही है तथा संयमाचरण चारित्र के दो भेद हैं ह्य एकदेश और सकलदेश।
 - पाँचवें गुणस्थानवर्ती श्रावक के तो एकदेश चारित्र हैं।
 - छठवें से लेकर बारहवें गुणस्थान तक मुनिराज के सकलदेश चारित्र हैं।
 - तेरहवें गुणस्थान में पहुँचने पर वही मुनिराज, जिनराज बन गये और परमात्मा कहलाये। वहाँ उनके सम्यक्चारित्र की पूर्णता होकर बन्ध का अभाव हो गया है।
 - जितना-जितना कषायों का अभाव होता जाता है, उतना-उतना ही उनके सम्यग्दर्शन अथवा सम्यक्चारित्र गुण का विकास होता जाता है।
 - दर्शनमोहनीय का अभाव होने पर सम्यग्दर्शन होता है।
 - अनन्तानुबन्धी चौकड़ी का अभाव होने पर उतने अंश में स्वरूपाचरणचारित्र प्रगट होता है।
 - अप्रत्याख्यानावरण कषाय चौकड़ी का अभाव होने से देशचारित्र प्रगट होता है।
 - प्रत्याख्यानावरण कषाय चौकड़ी का अभाव होने से सकलचारित्र प्रगट होता है।
 - संज्वलन कषाय चौकड़ी और नव नोकषाय का अभाव होने से यथाख्यात चारित्र प्रगट होता है।
- इसतरह इस चारित्र मोहनीय कर्म की २५ प्रकृतियाँ ही जीव को राग-द्वेष होने में निमित्त कारण हैं।

(76)

उनमें से अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान,

प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, संज्वलन, क्रोध-मान ह्व ये आठ और अरति, शोक, भय, जुगुप्सा ये कुल बारह प्रकृति तो द्वेषरूप परिणमन में निमित्त हैं तथा शेष तेरह प्रकृतियाँ रागरूप परिणमन में निमित्त हैं।

इसप्रकार अनादिकाल से यह जीव इन्हीं २५ कषायों के वशीभूत होकर नित्य अनेक दुष्कर्म करता हुआ संसार सागर में भ्रमण कर रहा है। अतः आठों कर्मों में इस मोहनीय कर्म को सर्वप्रथम जीतना चाहिये।

जब तक मोहनीयकर्म का पराजय न हो, तब तक शेष कर्मों का पराजय हो ही नहीं सकता। इसलिये सर्व प्रथम सम्यग्दर्शन प्राप्त करके दर्शनमोह का, सम्यग्ज्ञान से ज्ञानावरण का और सम्यक्चारित्र से (अर्थात् वीतरागता से) चारित्रमोहनीय का नाश करके सम्यक्स्वभाव प्राप्त करना चाहिये।

जब कोई भी जीव इसी क्रम से कर्मों का नाश करके आत्मा के गुणों का विकास करेगा, तभी वह अपने ध्येय को प्राप्त कर सकेगा।”

इसी विषय को समझने के लिए आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजीस्वामी के प्रवचन का अंश हम आगे दे रहे हैं ह

“जिसप्रकार राजमार्ग की सीधी सड़क के बीच में काँटे-कंकड़ नहीं होते; उसीप्रकार मोक्ष का यह सीधा व स्पष्ट राजमार्ग, उसके बीच में राग की रुचिरूपी काँटे-कंकड़ नहीं हो सकते।

सन्तों ने शुद्धपरिणतिरूप राजमार्ग से मोक्ष को साधा है और वही मार्ग जगत को दर्शाया है।

११७. प्रश्न ह्व यह राजमार्ग है तो दूसरा कोई ऊबड़-खाबड़ मार्ग भी तो होगा न?

उत्तर ह्व ऊबड़-खाबड़ मार्ग भी राजमार्ग से विरुद्ध नहीं होता। राजमार्ग पूर्व की तरफ जाता हो और ऊबड़-खाबड़ मार्ग पश्चिम की तरफ जाता हो ह्व ऐसा तो नहीं बनता। भले मार्ग ऊबड़-खाबड़ हो,

१. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय श्लोक २१२ से २१४ पर्यंत की हिन्दी टीका।

परन्तु उसकी दिशा तो राजमार्ग की तरफ ही होगी न?

उसीप्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान उपरान्त शुद्धोपयोगी चारित्रदशा ह्व वह तो मोक्ष का सीधा राजमार्ग है, उससे तो उसी भव में ही केवलज्ञान और मोक्षपद प्राप्त हो सकता है और ऐसी चारित्रदशा बिना जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान है, वह अभी अपूर्ण मोक्षमार्ग होने से ऊबड़-खाबड़ कहा जाता है, वह कुछ ही भव में मोक्षमार्ग पूर्ण करके मोक्ष को साधेगा।

पूर्ण मोक्षमार्ग हो अथवा अपूर्ण मोक्षमार्ग हो, परन्तु इन दोनों की दिशा तो स्वभाव तरफ की ही है; एक की भी दिशा राग की तरफ नहीं है।

रागादिभाव तो मोक्षमार्ग से विपरीत है अर्थात् बन्धमार्ग है, इन रागादि से मोक्षमार्ग नहीं सध सकता। मोक्षमार्ग के आश्रय से बन्धन नहीं और बन्धमार्ग के आश्रय से मोक्ष नहीं।”

११८. प्रश्न ह्व सम्यक्चारित्र जब क्रम से वृद्धिगत होता रहता है, तब चारों घाति कर्मों के क्षय का निमित्तपना किसप्रकार रहता है।

उत्तर : कर्मों के क्षय का प्रारम्भ क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति के समय से ही हो जाता है। तीर्थकरकेवली, सामान्यकेवली अथवा श्रुतकेवली के पादमूल में ही कर्मभूमिज क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि मनुष्य क्षायिक सम्यक्त्व के प्राप्ति का पुरुषार्थ प्रारम्भ करता है।

१. सर्वप्रथम अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण परिणामों से अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क का विसंयोजन द्वारा अभाव हो जाता है।

२. पश्चात् यह जीव एक अंतर्मुहूर्त काल पर्यंत विश्राम लेता है। तदनंतर पुनः अधःकरणादि तीन करण परिणामों से मिथ्यात्व कर्म, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति कर्मरूप परिणमित हो जाता है। फिर सम्यग्मिथ्यात्व कर्म, सम्यक्प्रकृतिरूप परिणमित हो जाता है। तदनंतर क्रम से सम्यक् प्रकृति कर्म का उदय में आकर क्षय हो जाता

१. ‘परमार्थ वचनिका’ प्रवचन पृष्ठ ७०-७१

है। इस तरह दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियों का क्षय हो जाता है।

इसप्रकार सम्यक्त्व घातक सात प्रकृतियों का क्षय होता है।

क्षायिकसम्यक्त्व का उपर्युक्त अभूतपूर्व कार्य चौथे अविरत-सम्यक्त्व गुणस्थान से लेकर सातवें अप्रमत्तसंयत गुणस्थान पर्यंत किसी भी एक गुणस्थान में त्रिकाली, सहजशुद्ध, निजभगवान आत्मा के आश्रयरूप पुरुषार्थ से ही होता है।

इस विषय का विशेष स्पष्टीकरण आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी ने इसप्रकार किया है ह

“इतना विशेष है कि क्षायिकसम्यक्त्व के सन्मुख होने पर अन्तर्मुहूर्तकालमात्र जहाँ मिथ्यात्व की प्रकृति का क्षय करता है, वहाँ दो ही प्रकृतियों की सत्ता रहती है। पश्चात् मिश्रमोहनीय का भी क्षय करता है, वहाँ सम्यक्त्वमोहनीय की ही सत्ता रहती है। पश्चात् सम्यक्त्वमोहनीय की काण्डकघातादि क्रिया नहीं करता, वहाँ कृतकृत्यवेदकसम्यग्दृष्टि नाम पाता है ह ऐसा जानना।

तथा इस क्षयोपशमसम्यक्त्व ही का नाम वेदकसम्यक्त्व है। जहाँ मिथ्यात्व-मिश्रमोहनीय की मुख्यता से कहा जाये, वहाँ क्षयोपशम नाम पाता है। सो कथनमात्र दो नाम हैं, स्वरूप में भेद नहीं है। तथा वह क्षायोपशमिसम्यक्त्व चतुर्थादि सप्तगुणस्थान पर्यन्त पाया जाता है।

इसप्रकार क्षयोपशम सम्यक्त्व का स्वरूप कहा।

तथा तीनों प्रकृतियों के सर्वथा सर्व निषेकों का नाश होने पर अत्यन्त निर्मल तत्त्वार्थश्रद्धान हो, सो क्षायिकसम्यक्त्व है। सो चतुर्थादि चार गुणस्थानों में कहीं क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि को इसकी प्राप्ति होती है।

कैसे होती है? सो कहते हैं ह प्रथम तीन करण द्वारा वहाँ मिथ्यात्व के परमाणुओं को मिश्रमोहनीय व सम्यक्त्वमोहनीयरूप परिणमित करे व निर्जरा करे ह इसप्रकार मिथ्यात्व की सत्ता का नाश करे। तथा मिश्रमोहनीय के परमाणुओं को सम्यक्त्व मोहनीयरूप परिणमित करे

व निर्जरा करे ह इसप्रकार मिश्र मोहनीय का नाश करे। तथा सम्यक्त्व मोहनीय के निषेक उदय में आकर खिरें, उसकी बहुत स्थिति आदि हो तो उसे स्थिति-काण्डकादि द्वारा घटाये। जहाँ अन्तर्मुहूर्त स्थिति रहे तब कृतकृत्यवेदक सम्यग्दृष्टि हो। तथा अनुक्रम से इन निषेकों का नाश करके क्षायिकसम्यग्दृष्टि होता है।

सो यह प्रतिपक्षी कर्म के अभाव से निर्मल है व मिथ्यात्वरूप रंजना के अभाव से वीतराग है; इसका नाश नहीं होता। जबसे उत्पन्न हो तबसे सिद्ध अवस्था पर्यन्त इसका सद्भाव है। इसप्रकार क्षायिकसम्यक्त्व का स्वरूप कहा।”^१

३. नववें क्षपक अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ और प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ इन आठ कर्मप्रकृतियों का स्तिबुक संक्रमण होकर परमुख से अभाव हो जाता है। अर्थात् इन आठ घातिरूप पापप्रकृतियों का द्रव्य इनकी क्षपणा काल में समय-समय प्रति एक-एक फालिका संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ व पुरुषवेदरूप कर्म में संक्रमित हो-होकर दोनों कषाय चौकड़ियों का क्षय हो जाता है।

४. तदनन्तर इस क्षपक अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में ही दर्शनावरण कर्म के निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि इन तीन कर्मों का क्षय हो जाता है।

५. पश्चात् नववें गुणस्थान में ही स्त्रीवेद और नपुंसकवेद कर्म का द्रव्य पुरुषवेद कर्म में संक्रमित हो जाता है। तत्पश्चात् पुरुषवेद तथा हास्यादि छह (हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा) ह इन सातों कर्मों का संक्रमण संज्वलन क्रोध कषाय कर्मों में होता है। इसतरह नौ नोकषायों का क्षय हो जाता है।

अब चारित्रमोहनीय कर्मों में से मात्र संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ कषायों की ही सत्ता शेष रही है। उनके क्षय का क्रम निम्नानुसार है ह

६. नौवें गुणस्थान में ही संज्वलन क्रोध कषाय कर्म का संक्रमण संज्वलन मान कषाय में होता है। तदनंतर संज्वलन मान कषाय का संक्रमण संज्वलन माया कषाय में हो जाता है। और अंत में संज्वलन माया कषाय का संक्रमण लोभ कषाय कर्म में हो जाने पर संज्वलन क्रोध, मान और माया इन तीन कषायों का संक्रमण हो-होकर क्षय हो जाता है।

संज्वलन लोभ कषाय कर्म का संक्रमण नहीं होता है। संक्रमित होने के लिए यहाँ (नववें गुणस्थान के उपान्त्य समय में) अन्य चारित्रमोहनीय कर्म की सत्ता भी शेष नहीं रही है। सूक्ष्म लोभ चारित्रमोहनीय कर्म का संक्रमण अन्य किसी भी कर्म में नहीं होता है।

अतः संज्वलन लोभ कषाय कर्म का क्षय, स्वमुख से ही होता है।

पूर्वोक्त प्रकार नौवें क्षपक अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में ही चारित्रमोहनीय कर्म की २० प्रकृतियों का क्षय हो जाता है।

७. दसवें क्षपक गुणस्थान के प्रथम समय से ही मात्र संज्वलन लोभ कषाय कर्म सूक्ष्म लोभरूप से उदय में आ रहा है। बादर लोभ कषाय कर्म का सूक्ष्मकृष्टिकरण का कार्य नौवें गुणस्थान में ही संपन्न हो गया था। **दसवें गुणस्थान के अंतिम समय में सूक्ष्म लोभ कषाय का भी क्षय हो जाता है।**

८. अब मोहकर्म तथा मोहपरिणामों के सर्वथा अभाव से बारहवें गुणस्थान के प्रथम समय से ही मुनिराज पूर्ण वीतरागी हो गये हैं।

अब मोहनीय कर्म के बिना मात्र तीन घाति कर्मों की सत्ता शेष है।

यहाँ भी दर्शनावरण के नौ कर्मों में से छह कर्म ही शेष हैं। उनमें से निद्रा और प्रचला-इन दो कर्मों का बारहवें क्षीणमोह गुणस्थान के उपान्त्य समय में क्षय हो जाता है।

९. क्षीणकषाय गुणस्थान के अंतिम समय में ज्ञानावरण कर्म की मतिज्ञानावरणादि ५ प्रकृतियाँ, दर्शनावरण कर्म की चक्षुदर्शनावरणादि ४ प्रकृतियाँ और अंतराय कर्म की ५ प्रकृतियाँ ह कुल मिलाकर १४ कर्मप्रकृतियों का क्षय हो जाता है।

इसतरह घाति कर्मों के क्षय का विवरण पूर्ण हुआ।

११९. प्रश्न ह जब सम्यग्चारित्र क्रम से बढ़ते-बढ़ते पूर्ण होता है तथा पूर्वोक्त प्रकार से कर्मों का क्षय होता है, तब साधक जीव क्या करता है?

उत्तर : यह भी क्या अभी समझना बाकी है? अरे, भाई! साधक जीव मात्र अपने निज भगवान आत्मा का निर्विकल्परूप से ध्यान में लीन रहता है। अपने आत्म-स्वभाव के आनन्द में मग्न रहता है। मात्र ज्ञाता-द्रष्टा रहता है। इसे छोड़कर जीव का तो कुछ काम ही नहीं है। जीव अन्य कुछ कर भी नहीं सकता।

श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र आदि गुणों में जो विशेष परिवर्तन होता रहता है, वह उसके ज्ञान का ज्ञेय भी उस समय नहीं है। आगम के आधार से उसे इन सबका ज्ञान पहले ही हो चुका है। केवलज्ञान होने के बाद सब पदार्थ स्वयमेव ज्ञान में झलकेंगे; तथापि ध्यान के काल में इन बातों का कुछ विकल्प साधक को रहता ही नहीं।

कर्म के साथ जीव के राग-द्वेष तथा वीतराग परिणामों का अथवा जीव के राग-द्वेष तथा वीतराग परिणामों के साथ कर्म का कैसा निमित्त-नैमित्तिक संबंध है; इसका विश्लेषण करणानुयोग के शास्त्रों में आता है, वह मात्र जानने योग्य है। उसे जानकर किसी को कर्ता अथवा किसी को कर्म (कार्य) मानना अज्ञान है। इस विषय का खुलासा आचार्य अमृतचन्द्र ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थ के श्लोक १२ में निम्न शब्दों में स्पष्ट रूप से दिया है ह

“जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये ।

स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ॥१२॥

अर्थ : जीव के किये हुए रागादि परिणामों का निमित्तमात्र पाकर नवीन अन्य पुद्गल स्कन्ध स्वयमेव ज्ञानावरणादि कर्मरूप होकर परिणमन करते हैं।”

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थ में आगे के अनेक श्लोक एवं भावार्थ अत्यन्त मार्मिक हैं, उसे पाठक जरूर पढ़ें।

इस सम्यक्चारित्र की पूर्णता के प्रकरण में हमने संक्षेप में इसप्रकार जाना है।

१. सम्यक्चारित्र की उत्पत्ति तो सम्यग्दर्शन के साथ ही मुख्यता से तो चौथे अविरत गुणस्थान में होती है।
२. विवक्षावश सम्यक्चारित्र की उत्पत्ति सम्यग्दर्शन के साथ होने के कारण पाँचवें देशविरत एवं सातवें अप्रमत्तविरत गुणस्थान में भी हो सकती है।
३. सम्यक्चारित्र का विकास तो चौथे गुणस्थान में उत्पत्ति के साथ ही प्रारम्भ होता है।
४. तदनन्तर देशविरत गुणस्थान आदि में क्रम से चारित्र बढ़ता ही जाता है।
५. क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थान में चारित्रमोहनीय कर्म का क्षय होने से चारित्र, क्षायिक यथाख्यातरूप से परिणत हो जाता है।
६. क्षीणमोह गुणस्थान के पहले समय में ही भाव सम्यक्चारित्र पूर्ण होकर यथाख्यात चारित्र होता है। सही तो यह भी है कि उपशान्त मोह गुणस्थान के पहिले समय से ही औपशमिक यथाख्यात चारित्र हो जाता है।
७. सयोगकेवली नामक तेरहवें गुणस्थान में केवलज्ञान के निमित्त से क्षायिक यथाख्यात चारित्र ही परमावगाढ़ यथाख्यात चारित्र नाम को प्राप्त होता है।

८. केवलज्ञान अनन्त होने से चारित्र में अनन्तता कही जाती है।
९. अयोगीकेवली गुणस्थान में योग का भी अभाव होने से परमावगाढ़ यथाख्यात चारित्र ही और विकसित होता है/कहा जाता है।
१०. सिद्ध अवस्था में अघाति कर्मों का अभाव होने से एवं प्रदेशत्व सामान्यगुण भी शुद्धरूप परिणत होने के कारण चारित्र-द्रव्यचारित्र भी परिपूर्णता को प्राप्त होता है।
११. सिद्ध अवस्था में असिद्धत्व औदयिक भाव का भी अभाव हो जाता है और सर्व प्रकार से सम्यक्चारित्र परिपूर्ण हो जाता है।
१२. अब भविष्य में सम्यक्चारित्र में विकास होने की कुछ भी गुंजाईश/अवकाश नहीं है।

इसतरह सम्यक्चारित्र की पूर्णता का विषय परिपूर्ण हो गया।

१२०. प्रश्न हूँ जिसतरह आपने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र प्रत्येक की पूर्णता का स्वतंत्र प्रकरण लिखा/लिखना ही चाहिए था, अच्छा किया। उसी तरह अब आपको आगे मोक्षमार्ग की पूर्णता भी लिखना ही चाहिए। लिखोगे ना?

उत्तर :हूँ नहीं लिखेंगे; क्योंकि मोक्षमार्ग, जीव द्रव्य की किसी एक गुण की पर्याय नहीं है। मोक्षमार्ग कोई गुण नहीं है। मोक्षमार्ग तो श्रद्धा ज्ञान एवं चारित्र हूँ इन तीन गुणों की स्वभाव परिणमन का एक नाम है।

जहाँ सम्यक्चारित्र की पर्याय पूर्ण हो गयी वहीं मोक्षमार्ग भी पूर्ण हो गया है।

चौथे गुणस्थान में मोक्षमार्ग चालू हो गया और सिद्ध अवस्था में मोक्षमार्ग पूर्ण हो गया अर्थात् मोक्ष हो गया। अब मोक्षमार्ग रहा नहीं।

इसलिए मोक्षमार्ग की पूर्णता नामक स्वतंत्र प्रकरण लिखने की आवश्यकता ही नहीं रही।

सम्यग्दर्शन की पूर्णता, सम्यग्ज्ञान की केवलज्ञानरूप क्षायिक ज्ञान की पर्याय एवं सिद्ध अवस्था की प्राप्ति हूँ यह सब प्रकरण मोक्षमार्ग की पूर्णता को स्पष्ट करने के लिए ही लिखा गया है।

[चारित्रगुण का स्वरूप (तीसरा भाग) समाप्त]

ह●ह

उपसंहार एवं लाभ

द्रव्य, गुण, पर्याय की स्वतंत्रतारूप विषय का विशद ज्ञान करने के लिए जिनधर्म-प्रवेशिका (पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट से प्रकाशित) नामक कृति में अगुरुलघुत्व गुण नामक सामान्य गुण का अंश भी उपयोगी जानकर उसे हम आगे दे रहे हैं ह

१२१. “प्रश्न ह अगुरुलघुत्व गुण किसे कहते हैं ?

उत्तर ह जिस शक्ति के कारण द्रव्य में द्रव्यपना कायम रहता है अर्थात् एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप नहीं होता, एक गुण दूसरे गुणरूप नहीं होता और द्रव्य में रहने वाले अनन्त गुण बिखरकर अलग-अलग नहीं हो जाते; उसे अगुरुलघुत्व गुण कहते हैं ।

१२२. प्रश्न ह अगुरुलघुत्व शब्द का क्या अर्थ है ?

उत्तर ह अ = नहीं, गुरु = बड़ा, लघु = छोटा । अर्थात् प्रत्येक द्रव्य अपने में पूर्ण होता है, छोटा-बड़ा नहीं ।

१२३. प्रश्न ह अगुरुलघुत्व गुण न मानने से क्या हानि होगी ?

उत्तर ह अगुरुलघुत्व गुण न मानने से द्रव्य-गुण-पर्याय की स्वतंत्रता का नाश हो जाने का प्रसंग आयेगा ।

१२४. प्रश्न ह अगुरुलघुत्व गुण को जानने से हमें क्या-क्या लाभ होते हैं ?

उत्तर ह अगुरुलघुत्व गुण को जानने से हमें अनेक लाभ होते हैं, वे निम्नप्रकार हैं ह

१. विश्व का प्रत्येक द्रव्य, द्रव्य का प्रत्येक गुण और गुण की

प्रत्येक पर्याय अपनी-अपनी अपेक्षा से सत्, अहेतुक एवं निरपेक्ष है; इस तरह वस्तु-व्यवस्था का स्पष्ट एवं पक्का निर्णय होता है ।

२. प्रत्येक वस्तु का द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव भिन्न-भिन्न ही होने से एक वस्तु का अन्य वस्तु से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं अर्थात् प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र ही है; ऐसा वस्तुस्वरूप का यथार्थ ज्ञान होता है ।

३-४. एक द्रव्य अन्य द्रव्यरूप नहीं होता अर्थात् जीव द्रव्य पुद्गलादि अन्य द्रव्यरूप नहीं परिणमते; बदलते नहीं है । अथवा एक जीव द्रव्य दूसरे जीव द्रव्यरूप भी नहीं परिणमता । जीवद्रव्य, जीवद्रव्यरूप ही है और पुद्गलादि द्रव्य पुद्गलादि रूप ही रहते हैं । जैसे ह शरीर (पुद्गल) कभी भी जीवरूप नहीं बदलता । टी.वी., टेपरिकार्डर, रेडियो कभी भी जीव नहीं होते । लक्ष्मण का जीव राम के जीवरूप नहीं हो सका ह ऐसा जानने से कर्ताबुद्धि का नाश होता है ।

५. प्रत्येक गुण की पर्याय अर्थात् कार्य, भिन्न-भिन्न ही होने से एक ही द्रव्य में रहने वाले एक गुण की पर्याय, उसी द्रव्य में रहने वाले अन्य गुण की पर्याय से कथंचित् पूर्ण स्वतंत्र ही है; ऐसा निर्णय होता है ।

६-७. श्रद्धा गुण की पर्याय क्षायिक सम्यक्त्वरूप (सिद्ध भगवान के सम्यक्त्व समान) पूर्ण निर्मल होने पर भी साधक जीव के ज्ञान और चारित्र गुण की पर्यायें अपूर्ण/अविकसित रहती हैं । इसी कारण से श्रावक एवं साधु के अनेक गुणस्थान होते हैं; यह विषय हमें अगुरुलघुत्व गुण से ही स्पष्ट होता है ।

८. श्रद्धा की पर्याय चौथे गुणस्थान में, ज्ञान की पर्याय तेरहवें गुणस्थान में एवं चरित्र की पर्याय सिद्ध अवस्था में परिपूर्ण निर्मल होती है; ऐसा पक्का ज्ञान होता है ।

९. भावलिंगी मुनिराज भूमिका के योग्य क्रोधादि कषायरूप परिणत होते हुए भी उनका भावलिंगपना सुरक्षित रहता है और श्रावक पूजादि

शुभ कार्य करते समय अथवा युद्धादि अशुभ कार्य करते समय भी उसका साधकपना यथायोग्य बना रहता है; यह विषय समझ में आता है।

१०. द्रव्य अर्थात् वस्तु और गुणों का ह्व द्रव्य, क्षेत्र एवं काल एक ही होने से द्रव्य में से गुण बिखरकर अलग-अलग नहीं होते। जैसे ह्व डिब्बे में भरे हुए गेहूँ डिब्बे से बिखरकर अलग-अलग हो जाते हैं; वैसे जीव द्रव्य में से ज्ञानादि गुण, अथवा पुद्गल में से स्पर्शादि गुण बिखरकर अलग-अलग नहीं होते हैं।

११. जीव-पुद्गलादि द्रव्य में ज्ञानादि या स्पर्शादि गुण जितने और जैसे हैं, वे उतने और वैसे के वैसे ही बने रहते हैं; न हीनाधिक होते हैं और न उनका अभाव होता है।”

१२५. प्रश्न ह्व एक जीव में स्थित श्रद्धा गुण का क्षायिक सम्यक्त्वरूप पूर्ण एवं निर्मल परिणमन उसी जीव में स्थित ज्ञान तथा चारित्र गुण के परिपूर्ण परिणमन करने में कुछ उपयोगी नहीं है ह्व क्षायिक सम्यक्त्वरूप पर्याय, ज्ञान तथा चारित्र के पूर्ण परिणमन में कार्य नहीं कर सकती, यह जिसतरह आपने व्यवस्थित सिद्ध करके दिखाया।

उसीतरह पुद्गल द्रव्य के एक गुण का परिणमन उसी पुद्गल के दूसरे गुण के परिणमन में अकिंचित्कर है; कृपया इसे भी समझाइयें।

उत्तर ह्व सुनो, समझो ! एक वस्तु के द्रव्य, गुण, पर्याय में परस्पर कथंचित् स्वतंत्रता है, यह तो वस्तु-व्यवस्था का प्राण है। इसलिए हम पुद्गल के सम्बन्ध में भी यह स्वतन्त्रता स्पष्ट कर सकते हैं ह्व

एक कच्चा आम है। उसे जितना बड़ा होना था उतना तो वह बड़ा हो गया है। अब उसे पीला एवं मीठा होना ही बाकी है ह्व अर्थात् उसे अब मात्र पकना है। डाली पर लगा रहने से कच्चा आम क्रम-क्रम से पकता रहता है या घास में डालकर भी उसे पका सकते हैं अथवा वातावरण की गरमी से भी वह स्वयं ही धीरे-धीरे पकते हुए पीला होता जायेगा, मीठा भी होता रहेगा एवं मुलायम भी होगा।

स्पर्श में कठोरता के स्थान पर मृदु होगा, खट्टे रस के स्थान पर मीठा रस बनेगा, कच्चे आम की गंध एवं मीठे आम की गंध में भी विशिष्ट बदल तो होता ही है, भले ही हम उसे शब्दों में व्यक्त नहीं कर पायेंगे। हरे रंग का परिणमन भी पीलेपन में होता है, इत्यादि सामान्य कथन हुआ।

यहाँ हम पाठकों से पूछना चाहते हैं कि स्पर्श, कठोरता के स्थान पर मुलायम हो गया; हरा रंग भी जितना पीला होना सहज संभव था उतना हुआ, गंध में भी जो बदल होना था, वह हुआ। अब प्रश्न यह है कि क्या आम के रस को मीठा भी होना अनिवार्य है अथवा वह खट्टा भी रह सकता है ?

आप कहोगे, खट्टा भी रह सकता है तो इसका अर्थ यह हुआ कि स्पर्श की मृदुता, वर्ण का पीलापन और विशिष्ट गंध का होना ह्व ये तीनों (स्पर्श, वर्ण एवं गंध गुणों की पर्यायें) मिलकर भी खट्टे रस को मीठा बनाने में असमर्थ ही रहे।

अथवा यह भी हो सकता है कि आम का रंग अपेक्षित पीला न हो और आम मीठा हो जाय। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रत्येक गुण का परिणमन अपने-अपने में स्वतन्त्र है, कोई किसी के अधीन नहीं है; क्योंकि उनमें परस्पर अतद्भाव हैं।

जहाँ एक ही जीव अथवा एक ही पुद्गल द्रव्य के एक गुण का परिणमन अन्य गुण के परिणमन में कुछ भी परिवर्तन करने में समर्थ नहीं है, वहाँ हम-आप अन्य जीव द्रव्य की अनुकूल-प्रतिकूल पर्याय में परिवर्तन कर सकें यह कैसे सम्भव है ? अर्थात् असम्भव ही है।

संक्षेप में मूलतः यह समझना आवश्यक है कि कोई भी द्रव्य किसी भी अन्य जीव अथवा पुद्गल द्रव्य में अपनी ओर से कुछ भी परिवर्तन नहीं कर सकता।

१२६. प्रश्न ह्व आपके इस समग्र कथन से हमें क्या लाभ है ?

उत्तर ह्व मोक्षमार्ग की पूर्णता नामक इस कृति से निम्नप्रकार लाभ हो सकते हैं ह्व

१) वस्तु व्यवस्था का यथार्थ ज्ञान अर्थात् ह्व द्रव्य, गुण, पर्याय की स्वतन्त्रता एवं स्वावलंबन का ज्ञान हो जाता है।

२) अत्रती सम्यग्दृष्टि के जीवन की जिन-जिन घटनाओं से जब हम आशंकित तथा भ्रमित हो जाते हैं एवं अंदर ही अंदर मानसिकरूप से व्यथित/दुःखी होते हैं, तब हमें उन सब शंकाओं का समाधान मिल जाता है।

जैसे ह्व चक्रवर्ती भरत और बाहुबली का युद्ध, मधु राजा का पापाचार और उसी भव में मुक्ति की प्राप्ति, राम-लक्ष्मण के आपस का बंधु प्रेम, राजा पवनकुमार का सती अंजना के साथ उपेक्षा सहित व्यवहार, तदनन्तर एकदम अति रागरूप कार्य आदि।

३) व्रती श्रावक के जीवन में भी आकस्मिक ऐसी अनेक घटनाएँ घटित हो जाती हैं, उनका भी समाधान मिलता है, जैसे ह्व सेठ सुदर्शन, आचार्य समंतभद्र, मुनिराज विष्णुकुमार, मुनिराज श्रुतसागर तथा आचार्य श्री अकम्पन जैसे महापुरुषों के जीवन की घटनाओं से हम चंचल-चित्त नहीं होते।

४) गजकुमार, सुकौशल आदि मुनिराजों के पूर्वकालीन जीवन से कुछ आश्चर्यजनक कल्पनार्ये न होकर सहजता की प्रतीति होती है।

५) मोक्षमार्ग के साधक एवं बाधक गुणस्थानों में होनेवाली घटनाएँ भूमिका के अनुसार सहज होनेवाले कार्य हैं ह्व ऐसा निर्णय होता है।

६) सम्यग्दृष्टि मनुष्य की अनेक वर्षों तक अत्रती अवस्था जानकर उसके प्रति उत्पन्न होनेवाला अनादर भाव तथा अन्यथा कल्पनार्ये सहज ही दूर हो जाती हैं एवं पुण्य-पाप परिणाम तथा पुण्य-पाप कर्मों की विचित्रता की सहज प्रतीति होती है।

(83)

७) अत्रती मनुष्य को व्रतों का ग्रहण हठपूर्वक करना चाहिए ह्व ऐसी कल्पना का अभाव हो जाता है।

८) मात्र बाह्य व्रतों की महिमा व मानकषाय का भाव नष्ट हो जाता है। जीवन में सहजता एवं समाधान प्राप्त होता है।

९) ज्ञानी जीवों के जीवन में चारित्र मोह के मंदोदय में बुद्धिपूर्वक यथायोग्य व्रतों का अभ्यास करता हुआ पाक्षिक श्रावक की भूमिका में अंतरोन्मुखी पुरुषार्थ से अप्रत्याख्यान भाव के अभावपूर्वक शुद्धि/वीतरागता प्रगट होने से व्रतों का सहजरूप से पालन होता है। इस कारण व्रत सहजरूप से क्रम से आ जाते हैं; इस आगम-वचन (प्रवचनसार गाथा ५ की टीका) की श्रद्धा उत्पन्न होती है।

१०) सर्वार्थसिद्धि के देव, लौकान्तिक देव, सौधर्म इन्द्र एवं चक्रवर्ती मनुष्य तथा भोगभूमिज मनुष्य के औदयिक परिणामों की विभिन्नता सहज प्रतीत होती है, उसमें अटपटापन नहीं लगता।

इतने विवेचन से पाठकों को श्रद्धा आदि गुणों की, सम्यग्दर्शन आदि पर्यायों की उत्पत्ति, उनका विकासक्रम एवं उनके पर्याय की पूर्णता का कथंचित् ज्ञान अवश्य हुआ होगा ह्व ऐसा मैं मानता हूँ।

साथ ही यह सम्पूर्ण प्रकरण जिनवाणी और ज्ञानियों के अनुसार है, तथा जो कमियाँ हैं, वे सब मेरी अल्पज्ञता के कारण हैं ह्व ऐसा समझने का पाठकों से मेरा नम्र निवेदन है।

मैंने जो लिखने तथा प्रकाशित करने का प्रयास किया है, उसमें जिनेन्द्र-कथित तत्त्व का मेरे द्वारा किया गया अध्ययन, मनन-चिंतन ही प्रमुख है अथवा उनका ही यह सुमधुर फल है; ऐसा समझना भी गलत नहीं होगा।

अंत में पाठकगण उक्त सम्पूर्ण विषय को समझकर मोक्षमार्ग की पूर्णता की ओर अग्रेसर हों ह्व इस भावना से विराम लेता हूँ।

सुज्ञेषु अलं विस्तरेण।

[प्रथम खण्ड समाप्त]

ह●ह

परिशिष्ट
अनमोल बोल

सम्यग्दर्शन का स्वरूप और वह कैसे प्रगटे?

- जबतक यह निर्णय न हो कि मैं तो निश्चय से ज्ञानस्वरूप ही हूँ, अन्य कोई रागादि मेरा स्वरूप नहीं है, तबतक सच्चे श्रुतज्ञान को पहचानकर उसका परिचय प्राप्त करना चाहिये।
- सत्श्रुत के परिचय से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निर्णय करने के बाद मति-श्रुतज्ञान को उस ज्ञानस्वभाव की ओर झुकाने का प्रयत्न करना चाहिये।
- निर्विकल्प होने का पुरुषार्थ करना चाहिये, यही पहला अर्थात् सम्यक्त्व के प्राप्ति का मार्ग है।
- बारम्बार ज्ञान में एकाग्रता का अभ्यास ही करना है, बाह्य में कुछ नहीं करना है।
- ज्ञान में ही समझ और एकाग्रता का प्रयास करना है।
- ज्ञान में अभ्यास करते-करते जहाँ एकाग्र हुआ, वहाँ उसी समय सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के रूप में यह आत्मा प्रगट होता है।
- सम्यग्दर्शन ही जन्म-मरण को दूर करने का उपाय है।
- मेरे में मात्र जानने का स्वभाव है, मेरे में अन्य कुछ करने का स्वभाव नहीं है।
- अनन्त उपवास करे तो आत्मा का ज्ञान नहीं होता। बाहर दौड़-धूप करे तो भी ज्ञान नहीं होता; किन्तु ज्ञानस्वभाव की पकड़ से ही सम्यग्दर्शन तथा यथार्थ ज्ञान होता है।
- आत्मा की ओर लक्ष और श्रद्धा किये बिना सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान कहाँ से हो सकता है?

- पहले देव-शास्त्र-गुरु के निमित्तों से अनेक प्रकार श्रुतज्ञान को जाने और उससे भी एक आत्मा को पहिचाने।
- निज आत्मा का लक्ष करके प्रगट अनुभव करने के लिये मति-श्रुतज्ञान से बाहर झुकती हुई पर्यायों को स्वसन्मुख करने पर तत्काल निर्विकल्प निजस्वभावरस/आनन्द का अनुभव होता है।
- आत्मा जिस समय निजपरमात्मस्वरूप का दर्शन करता है, उसी समय स्वयं सम्यग्दर्शनरूप अवस्था प्रगट होती है।
- जिसे निज आत्मा की प्रतीति हो गई, उसे बाद में विकल्प उठता है, तब भी जो आत्मदर्शन हो गया है, उसकी प्रतीति तो रहती ही है।
- किसी वेष या मर्यादा में सम्यग्दर्शन नहीं है; किन्तु स्वरूप ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।
- सम्यग्दर्शन से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निश्चय करने के बाद भी शुभभाव आते तो हैं; परन्तु आत्महित ज्ञानस्वभाव का निश्चय करने से ही होता है।
- जैसे-जैसे ज्ञानस्वभाव की दृढ़ता बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे स्थूल शुभभाव भी दूर होते जाते हैं।
- बाह्य लक्ष्य से जो वेदन होता है, वह सब दुःखरूप है।
- आत्मा आंतरिक शांतरस की ही मूर्ति है, उसके लक्ष से जो वेदन होता है, वही सुख है।
- सम्यग्दर्शन आत्मा का गुण है। गुण-गुणी से पृथक् नहीं होता।
- एक अखण्ड प्रतिभासमय आत्मा का अनुभव ही सम्यग्दर्शन है।
- अपने स्वभाव की समझ के द्वारा भूल को स्वयं दूर करे तो दुःख दूर होकर सुख होता है।

- जो यथार्थ समझ के द्वारा भूल को दूर करता है, वह सम्यग्दृष्टि, ज्ञानी, सुखी एवं धर्मात्मा है।
- सम्यग्दर्शन अपने आत्मा के श्रद्धागुण की निर्विकारी पर्याय है।
- अखण्ड आत्मा के लक्ष से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है।
- सम्यग्दर्शन को किसी विकल्प का अवलंबन नहीं है।
- निर्विकल्प स्वभाव के अवलंबन से सम्यग्दर्शन प्रगट होता है।
- यह सम्यग्दर्शन ही आत्मा के सर्व सुख का कारण है।
- 'मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ, बन्धरहित हूँ' हूँ ऐसा विकल्प करना, सो शुभराग हैं।
- शुभ राग का उल्लंघन करने पर सम्यग्दर्शन प्रगट होता है।
- सम्यग्दर्शन स्वयं राग और विकल्प रहित निर्मल गुण है।
- सम्यग्दर्शन को संपूर्ण आत्मा का अवलंबन है।
- एकबार विकल्प रहित होकर अखण्ड ज्ञायकस्वभाव को लक्ष में लिया कि सम्यक् प्रतीति हुई, सम्यग्दर्शन हुआ।
- विकल्प में ही अटक जाता है, वह मिथ्यादृष्टि है।
- विकल्परहित होकर अभेद का अनुभव करना, सो सम्यग्दर्शन है।
- 'मैं बंधा हुआ हूँ अथवा मैं बंध रहित मुक्त हूँ' इसप्रकार की विचार-श्रेणी का उल्लंघन करके जो आत्मा का अनुभव करता है, सो सम्यग्दृष्टि है और वही समयसार अर्थात् शुद्धात्मा है।
- मैं अबंध हूँ हूँ बंध मेरा स्वरूप नहीं है, इसप्रकार के भंग की विचार-श्रेणी के कार्य में जो लगता है, वह अज्ञानी है।
- अज्ञानी जीव बाह्य से शांत बैठा दिखाई देता है; तथापि अंतरंग में तो वह विकार में ही लवलीन होने से एकांत आकुलता ही भोगता है, उसे किंचित् स्वरूप-जागृति नहीं है।

सच्चे देव, गुरु, धर्म

- जो यथार्थ समझ के बाद उस समझ के बल से आंशिक राग को दूर करके स्वरूप की एकाग्रता को क्रमशः साधता है, वह श्रावक है।
- जो विशेष राग को दूर करके, सर्व संग का परित्याग करके स्वरूप की रमणता में बारम्बार लीन होता है, वह मुनि-साधु है।
- जो सम्पूर्ण स्वरूप की स्थिरता करके, सम्पूर्ण राग को दूर करके शुद्धदशा को प्रगट करते हैं, वे सर्वज्ञदेव केवली भगवान है।
- केवली भगवान में से जो शरीर सहित दशा में विद्यमान हैं; वे अरिहन्तदेव हैं।
- जो केवली भगवान शरीर रहित हैं; वे सिद्ध भगवान है।
- अरहन्त भगवान के दिव्यध्वनि में जो वस्तुस्वरूप दिखाया है; उसे 'श्रुत' (शास्त्र) कहते हैं।
- सच्चे देव के स्वरूप में मोक्षतत्त्व का समावेश होता है।
- मुनिराज के स्वरूप में संवर और निर्जरा तत्त्व का समावेश होता है।
- जैसा सच्चे देव का स्वरूप है; वैसा ही जीवतत्त्व का स्वरूप है।
- अरहन्त और सिद्ध में मोक्षतत्त्व का समावेश होता है।
- अरिहन्त, सिद्ध के समान शुद्ध स्वरूप प्रत्येक जीव का स्वभाव है, और स्वभाव ही धर्म है।

इसप्रकार सच्चे देव, गुरु, धर्म के स्वरूप को भलीभाँति जान लेने पर उसमें सात तत्त्वों के स्वरूप का ज्ञान भी आ जाता है।

धर्मात्मा की स्वरूप-जागृति

- सम्यग्दृष्टि जीव के सदा स्वरूप-जागृति रहती है।
- सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् चाहे जिस परिस्थिति में रहते हुए भी उस जीव को स्वरूप की अनाकुलता का आंशिक वेदन तो हुआ ही करता है।
- सम्यग्दृष्टि को किसी भी परिस्थिति में सुख पर्याय की आशंका और विभाव का वेग ऐसा नहीं होता कि जिससे निराकुल स्वभाव के वेदन को बिल्कुल ढँककर मात्र आकुलता का वेदन होता रहे।
- सम्यग्दृष्टि को प्रतिक्षण निराकुल स्वभाव और आकुलता के बीच भेदज्ञान रहता है।
- बाह्य क्रियाओं से स्वरूप-जागृति का अनुमान नहीं लगाया जा सकता।
- ज्ञानी जीव को युद्ध के समय भी अंतरंग में विकार भाव के साथ तन्मयता नहीं रहती।
- शुद्धात्मरूप की जागृति ही धर्म है, दूसरा कोई धर्म नहीं।
- अखण्ड सत्यस्वरूप को जाने बिना-श्रद्धा किये बिना 'मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ, अबद्धस्पृष्ट हूँ' इत्यादि विकल्प भी स्वरूप की शुद्धि के लिये कार्यकारी नहीं है।
- एकबार अखण्ड ज्ञायक स्वभाव का लक्ष करने के बाद जो वृत्तियाँ उठती हैं; वे वृत्तियाँ अस्थिरता का कार्य करती हैं।
- सम्यग्दृष्टि के शुभाशुभ विकल्प स्वरूप को रोकने के लिये समर्थ नहीं हैं।
- भंग के विचार को उल्लंघन करके अभंग स्वरूप का स्पर्श करना, अनुभव करना, सो प्रथम आत्मधर्म अर्थात् सम्यग्दर्शन है।